स्वाध्यायमञ्जरी का तृतीय पुष्प

वैदिक-विनय

[प्रथम खण्ड]

लेखक—'अभय' विद्यालङ्कार



पुस्तक भण्डार गुरुकुल काङ्गड़ी

* ओ३म् *

गुरुकुल के अलभ्य प्रकाशन

भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास	१।)
विज्ञान प्रवेशिका (प्रथम भाग)	१।)
विज्ञान प्रवेशिका (द्वितीय भाग)	१।)
स्वामी श्रद्धानन्द जी के उपदेश (दो भाग)	२।)
पुराण मत पर्यालोचन	३)
ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार	॥)
सन्ध्या सुमन	१।)
गुणात्मक विश्लेषण	२॥)
वैदिक विनय (तीन भाग)	५)
भारतवर्ष का इतिहास (तीन भाग)	७)

पुस्तक-भण्डार

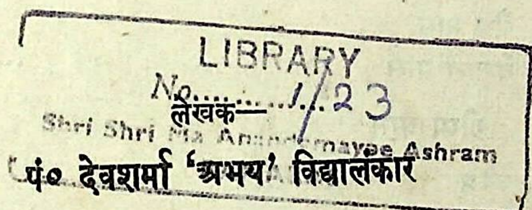
डाकघर-गुरुकुल काँगड़ी,

(सहारनपुर)

स्वाध्यायमञ्जरी का तृतीय पुष्प

वैदिक-विनय

[प्रथम खण्ड]



लेखक—
पं० देवशर्मा 'अभय' विद्यालंकार



श्री मुख्याधिष्ठाता जी की आज्ञानुसार
प्रकाशित

तृतीय संस्करण]
१०००

[दो रुपया

विषय-सूची

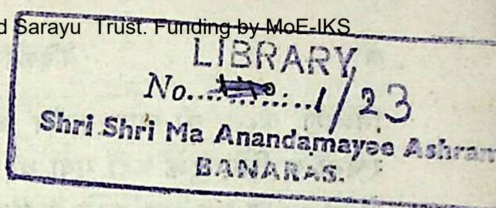
—०**०—

मुद्रक—

श्री हरिवंश वेदालङ्कार

गुरुकुल यन्त्रालय,

गुरुकुल काँगड़ी ।



प्रारम्भिक वचन

१. अनुकूल संयोग

कानपुर का जेल ठीक गंगा के तट पर बना हुआ है। गत वर्ष (संवत् १९८७) के शीतकाल के ६ महीने भर मुझे इसी 'कृष्णमन्दिर' में रहने का सौभाग्य रहा है। सौभाग्य इसलिए कहता हूँ क्योंकि यहां रहते हुए, जेल का स्वाभाविक कठोर जीवन बिताते हुए और जेल के स्वाभाविक एकान्त का सेवन करते हुए मैं सदा यही अनुभव करता रहा कि मैं इस गंगा-तट की तपोभूमि में तप करने आया हुआ हूँ, परमात्मा ने मुझे यहां इसीलिए भेजा है। और इस अनुकूल स्थिति में जब एक दिन, मेरे पैरों में महीने भर के लिए बेड़ियां देने वाले मेरे कानपुर-जेल के खान बहादुर जेलर साहिब ने तथा सुपरिन्टेन्डेन्ट 'कर्नल ओनील' साहिब ने मेरे हाथों में लेखन-सामग्री भी दे दी, तब उन्होंने मुझ पर जो कृपा की उसके लिए मैं उन दोनों का सदा कृतज्ञ रहूँगा। क्योंकि इसी का परिणाम यह वैदिक-विनय पुस्तक है। ऐसी एक प्रार्थना-पुस्तक, जिसमें वर्ष के प्रत्येक दिन के लिए एक वैदिक प्रार्थना हो, लिखने का संकल्प तो चार-पांच वर्ष से था। तब से था, जब कि पञ्जाब आर्य-प्रतिनिधि सभा की अन्तरङ्ग सभा ने ऐसी एक पुस्तक

निर्माण करने की आवश्यकता अनुभव की थी और उसकी रचना के लिए मुझे कहा गया था। परन्तु अब कानपुर जेल में दो महीने तक यत्न करने के पश्चात् जब मुझे जेल में कुछ लिख सकने की अनुमति मिली और मुझे लेखन-सामग्री दी गई तो, चूँकि तब तक सहारनपुर जेल में लिखना प्रारम्भ की गई 'अग्निहोत्र रहस्य' नामक पुस्तक के कागज़ात मुझे वापिस नहीं किये गये थे और न किये जाने की आशा थी, इसलिए तब मैंने अपने ऐसी प्रार्थना-पुस्तक लिखने के ही संकल्प को पूरा कर डालने का निश्चय कर लिया। और इस '१६ नम्बर की बैरक' में रहते हुए ही अगले चार महीनों में इस वैदिक-विनय का आधे से अधिक भाग लिख भी डाला अर्थात् वर्ष भर के सम्पूर्ण मन्त्रों का संग्रह कर लिया तथा लगभग ६ महीने तक के मन्त्रों का अर्थ-लेखन भी समाप्त कर लिया।

२. तैयारी

पाठकों को यह विदित होना ही चाहिए कि ये वैदिक-विनय (प्रार्थनाएँ) आपके लेखक ने कितने यत्न और कितने प्रेम से तैयार की हैं।

इसके लिए पहले तो अर्थों पर दृष्टि रखते हुए और अर्थ-चिन्तन करते हुए चारों वेदों का एक बार पाठ किया गया है और इस तरह ३६५ वेदमन्त्रों का उनके छन्दों के अनुसार चुनाव तथा संग्रह किया गया है। और अर्थ लिखना प्रारम्भ करने से पूर्व यास्क के सम्पूर्ण निरुक्त का दो बार अच्छी तरह बड़े ध्यान से अध्ययन किया गया है। लेखक का विश्वास है

कि तपस्या तथा अध्ययन की कमी, पूर्व आग्रह व पक्षपात अथवा जल्दबाजी आदि किन्हीं भी कारणों से वेदमन्त्रों का अशुद्ध अर्थ किया जाना पाप करना है, इसलिए मन्त्र का सत्य अर्थ पाने के लिए उसने अपनी शक्ति भर पूरा पूरा प्रयत्न किया है। जिस मन्त्र का अर्थ लिखना हो उसे पहिले कण्ठाग्र करके उसे बार बार मन में पढ़ते, बोलते और गाते हुए सो जाना तथा अगले दिन प्रातःकाल अपने नित्य के सन्ध्या, भजन और अग्निहोत्र कर लेने के बाद उसका अर्थ लिखना, बहुत बार यह क्रम रखा गया है। जब तक कि अर्थ इतना स्पष्ट नहीं हो गया कि अपना मन सन्तुष्ट हो जाय तब तक अर्थ नहीं लिखा गया। कई बार सन्देह रह जाने के कारण अर्थ लिखना स्थगित भी कर दिया गया है। अपनी तरफ से निःसंशय कहा जा सकता है कि मन्त्र के वास्तविक अभिप्राय को जान लेने के लिए यथाशक्ति विकारशून्य और निर्मल मन से पहुँच की गई है तथा इन मन्त्रों में से एक एक मन्त्र का अर्थ सर्वप्रेरक प्रभु से सच्चे अर्थ का प्रकाश पाने की प्रार्थना करके, मानसिक पवित्रता की अवस्था लाकर ही लिखा गया है। इसलिए पाठकों से भी प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे भी यदि ऐसे ही कुछ निर्मल भाव से इन प्रार्थनाओं का पाठ करेंगे, इनका स्वाध्याय व मनन करेंगे तो अच्छा होगा।

३. पाठ की विधि

लेखक की इच्छा है—स्वाध्याय-प्रेमी पाठकों के पास न जाने इतना समय होगा कि नहीं, किन्तु लेखक की इच्छा है–

कि पाठक निम्न प्रकार से इन मन्त्रों का स्वाध्याय करें।

१. स्वाध्याय प्रतिदिन किया जाय, इसमें कभी नागा न किया जाय।

प्रत्येक मन्त्र के ऊपर तिथियां इसलिए नहीं लिखी गई हैं कि उन तिथियों के दिन ही उन मन्त्रों के पढ़ने का कुछ माहात्म्य है, किन्तु इसलिए लिखी गई हैं कि पाठक प्रत्येक दिन ज़रूर एक न एक वैदिक प्रार्थना में से गुज़र जाया करें। स्वाध्याय में एक दिन भी नागा न हो; स्वाध्याय लगातार प्रतिदिन जारी रहे, यह तो सब से पहिला प्रयोजन है जिसके लिए कि यह प्रार्थना-पुस्तक रची गई है।

२. यदि सम्भव हो तो स्वाध्याय के मन्त्र को पहिले दिन कण्ठाग्र कर लिया जाय। पहिले दिन का सन्ध्या-समय इस कार्य के लिए अच्छा रहेगा।

लेखक का अभिप्राय यह है कि पाठक वेदमन्त्रों द्वारा (वेदमन्त्रों के शब्दों में) प्रार्थना करने के अभ्यासी होवें। वेद में प्राय: सब उपदेश व ज्ञान प्रार्थना रूप में ही कहे गये हैं। अत: लेखक की समझ में किसी समय वेद के प्रचार होने का यही अर्थ है कि उस समय के लोग वेदमन्त्रों द्वारा प्रार्थना कर सकें; वेदमन्त्रों के सहारे अपने संकल्प-बल को संग्रहीत करने और उसका सफल प्रयोग करने में समर्थ हो सकें। अत: हम वेद का प्रचार चाहने वालों को समाज में यह अवस्था लानी ही चाहिए कि लोग वेद के शब्दों में ही ईश्वर-स्तुति कर सकें। अस्तु। तात्पर्य यह है कि यदि पाठकों ने मन्त्र कण्ठस्थ कर

रखा होगा तभी वे वेदमन्त्रों के शब्दों में प्रार्थना कर सकने में सफल होंगे। यदि उन्होंने मन्त्र पहिले से कण्ठस्थ कर रखा होगा तो इस से उस मन्त्र का आशय समझने में और उसके आशय का आनन्द लेने में अर्थात् ठीक तरह स्वाध्याय करने में उन्हें बड़ी सहायता मिलेगी।

३. अगले दिन प्रातःकाल अपने स्वाध्याय के समय में पुस्तक द्वारा वह वेदमन्त्र पढ़कर तथा उसकी विनय पढ़कर स्वाध्याय करना चाहिए।

यह कहने की जरूरत नहीं कि यह दैनिक स्वाध्याय जहां तक हो सके पति-पत्नी तथा अन्य सब परिवार के सदस्य मिल कर किया करें। यदि उस परिवार में अग्निहोत्र भी हुआ करता हो तो यह प्रतिदिन का स्वाध्याय अग्निहोत्र के बाद अग्निकुण्ड के चारों तरफ बैठकर ही करना चाहिए। एक पढ़ता जावे तथा दूसरे उसे सुनें। इस प्रकार परस्पर अर्थ समझने-समझाने में भी सहायता प्राप्त होती रहेगी।

४. विनय-पाठ कर लेने के अनन्तर मन्त्र के शब्दार्थ को ध्यान पूर्वक पढ़ना चाहिए। शब्दार्थ देख लेने द्वारा यह अच्छी तरह देख लेना—समझ लेना—चाहिए कि मन्त्र के इन थोड़े से शब्दों में किस तरह पूर्वपठित विनय का सम्पूर्ण भाव आया हुआ है।

विनय में विस्तार से दिखलाए हुए सब विचारों और भावों को अन्त में हम मन्त्र-शब्दों में रखे हुए पा लेवें इसी-लिए इस पुस्तक में शब्दार्थ विनय के पीछे दिखाए गए हैं।

बहुत सम्भव है कि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए पाठकों को फिर एक दो बार मन में विनय को पढ़ लेना पड़ा करेगा, कम से कम एक बार तो विनय को फिर पढ़ ही लेना चाहिए; तभी मन्त्र का अर्थ स्पष्ट होगा।

विनय के शब्द बड़े यत्न से इस ढंग से लिखे गए हैं कि पाठकों के लिए मन्त्र के सब शब्दों का अर्थ और उनका पूरा पूरा अभिप्राय इसकी प्रार्थनामय भाषा में ही अच्छी तरह खुल जाय। विनय के शब्दों द्वारा प्रार्थना भी की गई है और मन्त्र के एक एक शब्द का अर्थ और अभिप्राय भी स्पष्ट किया गया है। यद्यपि इन विनयों की रचना में अनेक जगह इसके प्रार्थनारूप को और इसकी भाषा को भी बिगड़ जाने दिया गया है परन्तु मन्त्र के शब्दों का अर्थ तथा उनका पूरा आशय इन दोनों का स्पष्टीकरण ठीक हो जाय इस असली उद्देश्य को कहीं भी नहीं भूलने दिया गया है। अतः पाठकों को उचित है कि चाहे उन्हें विनय के शब्द कई बार देखने पड़ें पर वे तब तक स्वाध्याय को समाप्त न करें जब तक कि वे मन्त्र के आशय को मन्त्र के शब्दों में पूरी तरह न देख लेवें। और ऐसा कर लेने के बाद—

५. उस मन्त्र को—केवल वेदमन्त्र को—बार बार आनन्द से गा गा कर पढ़ें, कम से कम सात बार ज़रूर दोहरावें, और मन्त्रार्थ को इतना अच्छा तरह अनुभव करते हुए यह मन्त्रगान करें कि मानों वह वेदमन्त्र हमारे ही हृदय से निकल रहा है—हम ही उस मन्त्र के ऋषि हैं। विनय में प्रदर्शित वे सब भाव,

भावावेश और भक्ति आदि रस उस समय मन में पूरी तरह उठ रहे हों।

हमने यदि वेदमन्त्र के आशय को पूरी तरह ले लिया होगा तो इसकी पहिचान ही यह है कि तब हमारा स्वयं जी करेगा कि हम उस वेदमन्त्र को बार बार पढ़ें, गावें, गाते जावें। मन्त्र के बार बार दोहराने में हमें बड़ा आनन्द मिलेगा।

आर्यसमाज में भक्ति बढ़ाने की बड़ी आवश्यकता है। वेदवर्णित भगवद्भक्ति का प्रसार करने के लिए-इस दिशा में कुछ तुच्छ सेवा कर सकने के लिए—ही यह पुस्तक लिखी गई है। सच तो यह है कि लेखक को स्वयं इस पुस्तक के मन्त्रों का मनन करते समय बड़ा आनन्द मिला है। उसे ये अपने '१६ नम्बर की बैरक' के उच्च सात्विक सुख के दिन कभी न भूलेंगे। उन दिनों इन मन्त्रों का अर्थ जानने के लिए मन्त्रों का विचार और मनन करते करते मन मग्न हो जाया करता था। मग्न होकर इन मन्त्रों को गाते हुए मानसिक स्थिति उस समय के लिए एकदम ऊँची उठ जाती थी। अतः यदि अन्य भी किन्हीं सहृदय भाइयों को इन वेदमन्त्रों का स्वाध्याय उनकी आत्मा को ऊँचा कर देने वाला हो, उन्हें भक्ति प्रेमरस से नहला देने वाला हो, तो क्या ही अच्छा हो। असल में इसी आशा से और इसी प्रार्थना के साथ, लेखक ने यह संग्रह प्रकाशित करवाने की—छपवा कर कुछ स्थिर कर रखने की—इच्छा की है। क्या कहीं यह आशा और प्रार्थना सुनी जाएगी ?

४. छन्द

ऊपर मन्त्रों के गाने का वर्णन आया है। यद्यपि लेखक को स्वर तथा गान-विद्या के विषय में कुछ ज्ञान नहीं है, तो भी इस संग्रह में छन्दों का ध्यान रखा है। इस पुस्तक के उस उस ऋतु के सब मन्त्र उस उस ऋतु के अनुकूल छन्दों में ही संगृहीत किए गए हैं। निरुक्त के दैवतकाण्ड में ऋतुओं के साथ छन्दों का सम्बन्ध निम्न प्रकार कहा है—

१......वसन्तो गायत्री त्रिवृत्स्तोमो रथन्तरं साम।

नि० दै० ७.२.१॥

२......ग्रीष्मः त्रिष्टुप् पंचदशस्तोमो बृहत्साम......॥

नि० दै० ७.२.३॥

३......वर्षा जगती सप्तदशस्तोमो वैरूपं साम......॥

नि० दै० ७.१.४॥

४......शरदनुष्टुप् एकविंशस्तोमो वैराजं साम......

५......हेमन्तः पंक्तिः त्रिणवस्तोमः शाक्वर साम इति॥

६......शिशिरोऽतिच्छन्दाः त्रयस्त्रिंशो स्तोमो रेवतं साम॥

नि० दै० ७.२.५॥

स्वयं वेद में कई जगह ऋतुओं के साथ छन्दों का यही सम्बन्ध वर्णित है यजुर्वेद के निम्न मन्त्र देखिए—

१—अयं पुरो...वसन्तः प्राणायनो गायत्री वासन्ती...॥

य० १३.५४।

२—अय दक्षिणा...ग्रीष्मो मानसःत्रिष्टुप् ग्रैष्मी......।

यजु० १३.५५॥

३— अयं पश्चात्......वर्षाः चाक्षुष्यो जगती वार्षी......।

यजु० १३.५६॥

४— इदमुत्तरात् .....शरत् श्रोत्र्यनुष्टुप् शारदी......।

यजु० १३.५७॥

५— इदमुपरि......हेमन्तो वाच्यः पंक्तिर्हैमन्ती......॥

यजु० १३.५८॥

इन मन्त्रों में तथा निरुक्त वचन में एक ही समान ऋतुओं और छन्दों का सम्बन्ध कहा है। अन्तर केवल इतना है कि निरुक्त में छठी ऋतु के साथ 'अतिच्छन्दा' छन्द कहा है और वेद वाक्य में पांच ऋतुओं का ही वर्णन है। इसलिए हमने भी वसन्तादि पहिली पांच ऋतुओं में तो क्रमशः गायत्री आदि पांच छन्दों का ही क्रम रखा है परन्तु छठी (शिशिर) ऋतु को विविध छन्दों वाला बना दिया है। निम्न कोष्ठक देखिए—

ऋतु	छन्द	पद अक्षर	कुल अक्षर
वसन्त	गायत्री	३ ८	२४
ग्रीष्म	त्रिष्टुप्	४ ११	४४
वर्षा	जगती	४ १२	४८
शरद्	अनुष्टुप्	४ ८	३२
हेमन्त	पंक्ति	४ १० ५ ८	४०
शिशिर	विविध	... ...	...

५. सौर वर्ष

इस पुस्तक की दैनंदिनी (Diary) के लिए 'सौर वर्ष' चुना गया है—अर्थात् सूर्य की एक राशि से दूसरी राशि में संक्राति से जो महीने बनते हैं उन बारह महीनों का वर्ष गिना गया है। यद्यपि हमारे देश में कई कार्यों में चान्द्रतिथियों का भी उपयोग बहुतायत से होता है, परन्तु चूँकि चान्द्र महीनों की तिथियां नियत नहीं होती हैं, बिना किसी क्रम के कभी द्विगुणित और कभी लुप्त होती रहती हैं, इसलिए उन तिथियों के अनुसार प्रतिदिन के स्वाध्याय की पुस्तक को चलाना किसी तरह व्यवहार्य्य नहीं हो सकता। अतः सौरतिथियों के अनुसार यह पुस्तक चलाई गई है। यद्यपि अभी तक देश में प्रचलित सौरतिथियों के अनुसार भी प्रतिवर्ष प्रत्येक मास में निश्चित दिन नहीं होते हैं (जैसे कि पाश्चात्य जनवरी, फरवरी आदि महीनों में होते हैं) पर सौरमहीनों की इस त्रुटि को काशी के ज्ञानमण्डल से प्रकाशित होने वाले 'पञ्चाङ्ग' और 'सौर रोज़-नामचे' में जिस तरह दूर किया गया है, उससे अब समस्या हल हो जाती है।

उन्होंने प्रत्येक राशि व सौरमास के दिन नियत कर दिए हैं और प्रत्येक मास की घटती-बढ़ती को अगले मास से मिला कर पूर्णाङ्क कर दिए हैं। इस तरह सौरतिथियों की एकता सारे देश में (और संसार में) हो सकती है। और यदि हमें यह अभीष्ट हो कि सौर तिथियों का चलन हो जाय तो इन तिथियों

को व्यवहार्य्य बनाने के लिए यह करना पड़ेगा। अस्तु। इस पुस्तक में लेखक ने इसी के अनुसार प्रत्येक मास के दिन निश्चित कर दिए हैं। प्रत्येक सौरमास में ये नियत दिन कितने कितने होते हैं यह याद रखने के लिए पाठक निम्न दोहा याद कर सकते हैं—

मार्ग पौष उनतीस के, का मा फा चै तीस।
आ बत्तीस. फा चौथ सन, औ बाकी इकतीस॥

[मार्गशीर्ष और पौष २९ दिन के होते हैं; कार्तिक, माघ, फाल्गुन और चैत्र ३० दिन के होते हैं। आषाढ़ महीना बत्तीस दिन का होता है। और चौथे साल में फाल्गुन महीना तथा शेष सब महीने (अर्थात् वैशाख, ज्येष्ठ, श्रावण, भाद्रपद और आश्विन) ३१ दिन के होते हैं]।

यद्यपि पंजाब, बङ्गाल, गढ़वाल आदि प्रदेशों में सौर-तिथियों का चलन है पर उनमें संक्रमण काल के मान में भेद रहने के कारण जो एक दो दिन का अन्तर रहता है वह इस ज्ञान-मण्डल के 'पञ्चाङ्ग' की विधि से हट जाता है।

यद्यपि सौरवर्ष वैशाख मास से प्रारम्भ होता है, पर इस पुस्तक में यह चैत्र मास से प्रारम्भ कर दिया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमने पूर्वोल्लिखित ऋतुक्रम ठीक रखना था और प्रथम ऋतु वसन्त-ऋतु ही होनी चाहिए, इसलिए चैत्र मास को भी वैशाख मास के साथ जुड़ा रखना आवश्यक समझा गया।

आशा है इस पुस्तक द्वारा सौर-तिथियों के व्यापी प्रचार में भी यह जरा सी अप्रत्यक्ष सहायता मिलेगी।

६. ऋतुचर्या

प्रत्येक ऋतु के स्वाध्यायमन्त्रों का प्रारम्भ करने से पूर्व इस पुस्तक में यह बात भी दिखला दी गई है कि आयुर्वेद के ग्रन्थों के अनुसार उस ऋतु में कैसी चर्या रखनी चाहिए, उस ऋतु में क्या पथ्य है और क्या अपथ्य। परन्तु इन ऋतु-चर्याओं के अनुसार आचरण करने वालों का ध्यान एक बात की तरफ आकृष्ट कर देना उचित है। वह यह है कि ऋतुचर्या दिखाते हुए प्रारम्भ में उस ऋतु के जो लक्षण दिए हैं वे लक्षण जिन दिनों में घटते हों उन्हीं दिनों के लिए वह ऋतुचर्या है। इसीलिए प्रत्येक ऋतुचर्या के प्रारम्भ में उस ऋतु के लक्षण भी लिख दिए गए हैं। तात्पर्य यह है कि वसन्त के महीनों (चैत्र, वैशाख) में यदि ये वसन्त के लक्षण न हों तो तब तक यह चर्या नहीं करनी चाहिए अथवा यदि ये लक्षण फाल्गुन में ही प्रकट हों तो तभी से यह वसन्त-चर्या करनी चाहिए। अर्थात् इन ऋतुचर्याओं को किन्हीं निश्चित महीनों के लिए नहीं समझना चाहिए, किन्तु जिन भी किन्हीं दिनों उस ऋतु के लक्षण प्रकट हों तो तभी उस ऋतुचर्या का अनुसरण करना चाहिए। सुश्रुत महाराज ने तो प्रत्येक अहोरात्र में भी छःओं ऋतुएं मानी हैं; जैसे प्रातःकाल वसन्त, मध्यान्ह ग्रीष्म, सायं वर्षा इत्यादि। दूसरी ध्यान रखने योग्य बात यह है कि प्रत्येक

व्यक्ति को बहुत बार ऋतु से भी अधिक अपनी निजी प्रकृति का ध्यान रखने की आवश्यकता होगी। अतः (उदाहरणार्थ) पित्त प्रकृति वाले को चाहिए कि वह वसन्त और वर्षा में भी पित्तकारक वस्तुओं से सावधान रहे। अस्तु।

प्रत्येक महीने में क्या वस्तु निषिद्ध है, त्याज्य है, यह जो प्रत्येक ऋतुचर्या के अन्त में उसके दोनों महीनों के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है वह जिस हिन्दी कहावत के अनुसार है वह निम्नलिखित है—

चैते गुड़, बैशाखे तेल।
जेठे पन्थ, असाढ़े बेल॥
सावन दूध (साग), न भादों मही।
असौज करेला, न कातिक दही॥
मगसिर जीरा, पूसे धना।
माघे मिसरी, न फागुनें चना॥

७. बारह सौर महीने या बारह आदित्य

सौर वर्ष के पक्ष में मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि सौर बारह महीने ही प्रसिद्ध तैंतीस देवताओं में से बारह आदित्य देवता हैं। ये देवता क्यों हैं यह बात पाठकों को विदित होना आवश्यक है, क्योंकि यह समझा कर पाठकों को मैं यह भी कुछ निर्देश कर सकूँगा कि प्रत्येक मास के लिए जो मैंने एक एक प्राणायाम-पूर्वक व्यायाम लिखी है उसका उस उस महीने से क्या सम्बन्ध है।

यद्यपि आदित्य (सूर्य) पृथ्वी के चारों तरफ घूमता नहीं है तो भी वर्ष भर में जो पृथ्वी उसका एक चक्कर पूरा करती है उससे आदित्य ही हमें आकाश में एक गोलाकार चक्र में वर्ष भर घूमता प्रतीत होता है। यह सूर्यमार्ग "ज्योतिर्मण्डल" या "राशिचक्र" कहलाता है। इस मार्ग के बारह भाग किए गए हैं, और इस में दीखने वाले आकाश के बारह नक्षत्र समूहों के कारण ये भाग ही बारह (मीन, मेष, वृष आदि) राशि कहलाते हैं। एक (जैसे मीन) राशि में जब तक सूर्य रहता है तब तक एक (जैसे चैत्र) सौरमहीना रहता है। जब इस राशि से संक्रान्त कर सूर्य दूसरी राशि (जैसे मेष) में आता है तो दूसरा (जैसे वैशाख) सौर महीना हो जाता है। अब यहां वह बात देखिए जिसके कारण कि ये बारह सौर-महीने बारह आदित्य देवता कहलाते हैं। आदित्य तो बेशक इस बारह विभाग वाले मण्डल में नहीं घूमता है परन्तु तो भी पृथ्वी के आदित्य के चारों तरफ घूमने के कारण आदित्य का प्राण (जीवनशक्ति प्रकाश आदि) हम पृथ्वी वासियों को इन राशियों से चिह्नित भिन्न भिन्न बारह विभागों में से गुज़र कर पहुँचता है, अतः यह भिन्न भिन्न बारह प्रकार का प्रभाव रखता है। एवं भिन्न भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण ही एक आदित्य बारह प्रकार का आदित्य हो जाता है। इसीलिए ये बारह महीने बारह आदित्य कहलाते हैं, द्युस्थानीय बारह आदित्यदेव कहलाते हैं।

देवताओं में आदित्य सर्वोच्च देवता है। शरीर में जैसे

जीवात्मा है वैसे इस सौर-मण्डल का आत्मा आदित्य है। यह बात निरुक्त के परिशिष्ट में अच्छी तरह स्पष्ट की गयी है। वेद में स्पष्ट कहा है।

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।'

ऋ० १.११५.१॥

"सब स्थावर और जंगम जगत् का आत्मा है" यह इस सूर्यदेवताक मन्त्र का आधिदैविक अर्थ है।

प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥

प्रश्नोपनिषद् १.८॥

"सब प्राणियों का, सब उत्पन्न वस्तुओं का प्राण होकर यह सूर्य उदय होता है।" प्रश्नोपनिषद् में यह मन्त्र ऋग्वेद का वचन कह कर उपदेश किया गया है। वास्तव में इस संसार के सब प्रकार के जीवन का, सब प्रकार की चेष्टा, गति व क्रिया का तथा सब प्रकार की शक्ति का केन्द्र सूर्य ही है। भौतिक-विद्या के ज्ञाता भी प्रकाश, ताप, विद्युत, चुम्बक आदि सब बलों का तथा वनस्पति, पशु, मनुष्यों में रूपान्तरित सब बलों का भी आधार आदित्य को ही मानते हैं। पर आदित्य का यह प्राण ही हमें देश, काल, अवस्था आदि नाना भेदों से भिन्न भिन्न प्रकार का मिलता है और यही प्राण के प्रकार का भेद है जिसके कारण द्युस्थानीय देवता भिन्न भिन्न बहुत से हुए हैं तथा एक आदित्य की जगह नाना आदित्य बने हैं। इन प्रसिद्ध १२ आदित्यों के अतिरिक्त ७ आदित्यों का वर्णन निम्न वेदमन्त्र देखिए—

"सप्त दिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः।
देवा आदित्या ये सप्त तेभिः..........॥" ऋ० ६.११४.३ ॥

इस मन्त्र में नाना सूर्यवाली (भिन्न भिन्न प्रकार के सूर्य वाली भिन्न भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण भिन्न भिन्न प्रकार के सूर्य वाली) सात दिशाओं का वर्णन है और इसी के अनुसार सात आदित्यों का वर्णन है। एक ही आदित्य भिन्न भिन्न सात दिशाओं में भिन्न भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण सात आदित्य हो गया है। इस बात का स्पष्टीकरण प्रश्नोपनिषद् के निम्न वाक्य से हो जाता है।

"अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति, तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत् प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति, तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। प्रश्नोपनिषद् १.६ ॥

अर्थात् सूर्य प्राची (सामने की) दिशा में उदय होता हुआ अपनी रश्मियों में १. प्राच्य प्राणों को धारित करता है, दक्षिणा (दायीं) दिशा में उदय होता हुआ २. दाक्षिण प्राणों को रश्मियों द्वारा देता है, इसी तरह ३. पीछे, ४. बायें, ५.नीचे ६. ऊपर तथा ७. अन्तराल के प्राणों को देता है—और एवं सब प्रकार के प्राणों को अपनी किरणों में देता है। ये ही सात नाना सूर्य दिशाओं के सात आदित्य हैं। पर यह तो दिशा भेद से प्राण भेद हुआ। जो काल या अवस्था भेद से १२ प्राण भेद हैं उन्हीं के कारण प्रसिद्ध बारह महीनों के बारह आदित्य बने हैं।

"कतमे आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य एते आदित्या........।" बृहदारण्यक उप० ३.९.५॥

"आदित्य कौन से हैं ? संवत्सर के बारह महीने ही बारह आदित्य हैं।"

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक महीने में सूर्य भिन्न भिन्न प्रकार का प्राण देता हुआ भिन्न भिन्न आदित्य कहलाता है। प्रत्येक महीने में आदित्य की किरणें हम पर अपना ज़रा ज़रा भिन्न प्रकार का प्रभाव डालती हुई पड़ रही हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार इस पुस्तक में प्रत्येक महीने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की एक एक प्राणवर्धक व्यायाम बतलाई गई है।

८. बारह अंगों के लिए बारह प्रकार का प्राणदायक व्यायाम

यह तो कहा ही जा चुका है कि सूर्य प्राण-भण्डार है। सूर्य का पृथ्वी के प्रत्येक जीव के प्राणमय शरीर पर सीधा प्रभाव पड़ता है; और सूक्ष्मदर्शी योगियों के कथनानुसार सूर्यप्राण के इन उपर्युक्त बारह विभागों का, इन बारह आदित्यों का मनुष्य के निम्नलिखित बारह अंगों पर विशेष प्रभाव पड़ता है अथवा यूँ कहना चाहिए कि सूर्य शरीर के इन बारह अंगों का मनुष्य के निम्न अंगों से सम्बन्ध है, आकर्षण है, मेल है, एकता है—

आदित्य	राशि	महीना	अंग
पहिला आदित्य	मीन	चैत्र	सिर और मुख
दूसरा आदित्य	मेष	वैशाख	गर्दन और गला
तीसरा "	वृष	ज्येष्ठ	भुजाएँ, कन्धे, फेफड़े
चौथा "	मिथुन	आषाढ़	छाती और आमाशय
पाँचवाँ "	कर्क	श्रावण	हृदय, पीठ और रीढ़
छठा "	सिंह	भाद्रपद	आँतड़ियें और पेट
सातवाँ "	कन्या	आश्विन	गुर्दे और कटि
आठवाँ "	तुला	कार्तिक	उत्पादक अंग
नवाँ "	वृश्चिक	मार्गशीर्ष	कुल्हे और जाँघें
दसवाँ "	धनु	पौष	घुटने, टाँगे
ग्यारहवाँ "	मकर	माघ	गिट्टे Shin
बारहवाँ "	कुम्भ	फाल्गुन	पैर और अँगूठे

इसी प्राकृतिक अनुकूलता को लेकर योगियों ने इन अंगों के प्राणायाम (प्राणदायक व्यायामें) निकाले हैं जिन्हें कि इन महीनों में करने से विशेष लाभ होता है। पर यहां भी कोई इस अन्धविश्वास में न पड़े कि चैत्र में लिखी व्यायाम केवल चैत्र मास में ही करनी चाहिए। एक तो संक्रान्ति के मान में कुछ दिनों का हेर फेर संभवित है अतः यह नहीं कहा जा सकता कि पहिला आदित्य बिलकुल ठीक ठीक चैत्र मास में ही पूरा पूरा पड़ता है। पर यह तो निश्चित बात है कि मास

की अपेक्षा शरीर के अंगों के साथ इन व्यायामों का अधिक सम्बन्ध है। अर्थात् जिसे शिर के विशेष आरोग्य पाने की आवश्यकता है वह इस चैत्र मास में लिखी शिर की व्यायाम को बारहों महीने करे तो अच्छा है। बल्कि उसे तो चैत्र-व्यायाम के अन्त में उल्लिखित शिर की तीनों गौण व्यायामों को भी बारहों महीने करना चाहिए। इस ही प्रयोजन के लिए उस उस अंग के लिए तीन तीन गौण व्यायामें भी प्रत्येक महीने की व्यायाम के अन्त में दिखला दी गई हैं। पर फिर भी यह सत्य है कि मनुष्य को अपने शिर पर इस व्यायाम से चैत्र मास में बहुत अधिक लाभ मिलेगा, क्योंकि चैत्र मास के आदित्य का (इस महीने में आने वाले सूर्य प्राण का) मनुष्य के प्राणमय शरीर के उस भाग पर सीधा प्रभाव पड़ता है जो कि स्थूल शरीर में शिर और मुख से संबन्धित है। इसी तरह प्रत्येक मास के प्राणायाम के विषय में समझ लीजिए।

६. प्राणायामों (व्यायामों) की विधि

देखने में ये प्राणायाम, ये प्राणदायक व्यायामें बहुत सादी लगेंगी। पर यदि ये विधि के साथ की जाएँ तो इनका प्रभाव बहुत अधिक है। कोई इनकी सादगी के कारण इनको तुच्छ न समझे।

इन प्राणदायक व्यायामों का सब रहस्य, सब महत्व निम्न तीन बातों में है। यदि इन तीन बातों पर ध्यान रखा जायगा

तो ये मामूली दिखाई देने वाली व्यायामें अत्यन्त गुणदायक और बड़ी अद्भुत साबित होंगी।

१. प्रत्येक व्यायाम में यथास्थान मांसपेशियों का तानना और ढीला छोड़ना।

२. प्रत्येक व्यायाम में ठीक प्रकार से (निर्दिष्ट समय) श्वास लेना व रोकना तथा ठीक प्रकार से (निर्दिष्ट समय) श्वास को बाहिर निकालना।

३. प्रत्येक व्यायाम मानसिक ध्यान-पूर्वक करना, मन को निर्दिष्ट प्रकार से यथास्थान लगाना।

इन तीनों बातों के विषय में पाठकों को कुछ अधिक जान लेना चाहिए, इसलिए इन तीनों विषयों पर क्रमशः कुछ पंक्तियां लिखता हूँ।

१. जो व्यायाम मांसपेशियों को खींचने द्वारा इन्हें तान कर की जाती है, ऐसी कुछ मिनटों की व्यायाम ही ढीली मांस-पेशियों के साथ की गयी आध घंटे की व्यायाम से भी बहुत गुणकारी होती है। व्यायाम-कला के अच्छे ज्ञाता लोग बहुत बार बिना शरीर को हिलाए-डुलाए बैठे बैठे ही, केवल मांस-पेशियों को तानने-खींचने और फिर ढीला छोड़ने द्वारा, सब व्यायाम कुछ मिनटों में कर लिया करते हैं। बात यह है कि जब हम मांस-पेशिआं तानते हैं तो इस द्वारा अपनी नसों के असंख्यात घटक अणुओं को समाकृष्ट करते हैं और इनके मलों को बाहिर निकाल फेंकते हैं और इस तरह उस अंग में

निर्बाध प्राणसंचरण कर लेते हैं। जिस व्यायाम-पद्धति में केवल अंगों का बढ़ाना होता है, मलों का निकालना नहीं होता, तो उससे अंगों का स्थूल अंश बेशक बढ़ जाता है पर उनमें बल, प्राण, जीवनी-शक्ति नहीं होती, उनमें प्राण व रुधिर का संचरण रुकने से रोगोत्पत्ति जरूर होती है।

२. ये व्यायामें सदा शुद्ध से शुद्ध वायु में करनी चाहिएँ। सूर्य द्वारा आने वाला प्राण हमारे शरीरों को वायु द्वारा ही सबसे अधिक मिलता है। अतः ठीक प्रकार से श्वास लेने में ही प्राण की प्राप्ति हो जाती है। हमें गहरा, दीर्घ पूर्ण श्वास लेना चाहिए। यदि श्वास दीर्घ और गहरा होगा तो वह पेट तक पहुँचता अनुभव होगा और उससे पहिले पेट फूलेगा पीछे छाती तनेगी, बाहिर निकालते समय पहिले छाती खाली होगी और अन्त में पेट पिचकेगा। ऐसे गंभीर श्वास का लेना दृढ़तापूर्वक और काबू के साथ होना चाहिए तथा श्वास का छोड़ना एक-रस और आसानी से होना चाहिए। इस प्रकार के पूर्ण श्वास लेने का, ठीक तरह श्वास-प्रश्वास करने का, अभ्यास करना चाहिए। शरीर में बल और आरोग्य बढ़ाने वाली यह ठीक प्रकार की श्वसनक्रिया ही है, व्यायाम अर्थात् अंगों का हिलाना-डुलाना उतना नहीं है। मांसपेशियां बनाने वाले लोग शरीर की प्राणशक्ति और नीरोगता पर ध्यान नहीं देते। असल में तो प्राण की जीवनी शक्ति (नीरोगता और कार्यक्षमता) ही पहिली वस्तु हैं, शरीर की दृढ़ता और सुडौलता आदि सर्वथा गौण हैं। इसलिए प्रतिमास की उन भिन्न भिन्न व्यायामों को

भी कोई वेशक न करे किन्तु ठीक प्रकार से दीर्घ-श्वास प्रश्वास दिन में ५, ७ बार कर लेवे तो यह पर्याप्त है। हमें ठीक प्रकार के प्राणाभ्यास द्वारा शरीर को शुद्ध और बलवान् (प्राणपूर्ण) बनाना चाहिए। जब हम श्वास अन्दर लेवें तो हमारे शरीर का एक एक अणु प्राण से उज्जीवित और परिपूर्ण हो जाय तथा जब हम श्वास बाहिर छोड़ें तो हमारे अंगों के मल बाहिर निकलें और नवीन प्राण के लिए शरीर शुद्ध हो जाय। व्यायाम करते हुए जब हम कोई ऊपर की चेष्टा कर रहे हों तो श्वास का अन्दर लेना तथा जब अपने अंग को नीचे की तरफ ले जा रहे हों तो श्वास को बाहिर निकालना चाहिए, ऐसा करने से इस बल-प्राप्ति और शुद्धि की क्रिया में बड़ी सहायता और अनुकूलता मिलती है। अतः व्यायामों में श्वास लेने और छोड़ने का यही सामान्य नियम है।

३. पर मन प्राण से भी ऊँची वस्तु है। हम जो कुछ बने हुए हैं वह अपने विचारों के ही परिणामस्वरूप हैं। यदि हमारी मनःशक्ति जागृत हो तब तो हम व्यायाम का सब काम मन द्वारा ही कर सकते हैं और इसके विपरीत यदि मनःशक्ति न लगायी जाय तो घंटा भर भी किया व्यायाम व्यर्थ है। इसीलिए इन मानसिक व्यायामों के साथ कुछ महीनों तक ध्यान व संकल्प भी अच्छे शब्दों में प्रदर्शित कर दिए गए हैं और पाठकों को आगे भी इसी तरह संकल्प व ध्यान स्वयं अपने शब्दों में बना लेने चाहिएँ और इन संकल्पों के साथ मनोयोग पूर्वक ये व्यायामें करनी चाहिएँ। पाठकों को धीरे

धीरे अनुभव होगा कि ध्यानों का कितना प्रभाव है। यदि बीमारी आदि के कारण इन प्राण-व्यायामों का करना कभी संभव न हो तो भी इन ध्यानों को नहीं छोड़ना चाहिए, केवल इन ध्यानों संकल्पों ही से बड़ा लाभ होगा। याद रखिए कि आखिरकार हमारे शरीर का एक एक अंग और कुछ नहीं है यह भौतिक रूप में दृढ़ हुआ मनस्तत्व ही है। अतः यदि हम में मनःशक्ति प्रबल हो तो हम शरीर में जो चाहें वही परिवर्त्तन कर सकते हैं। अथर्ववेद के बहुत से सूक्त संकल्प शक्ति द्वारा रोगों की निर्मूल करने के लिए ही हैं। वेद से वास्तविक लाभ तो हम तभी उठा सकते हैं जब कि हमने अपने मन को जागृत और बलरूप बना लिया हो। अस्तु।

यह फिर दोहराने की आवश्यकता है कि मुख्य वस्तु स्वास्थ्य है, प्राणशक्ति पूर्ण स्वास्थ्य है। हमारा शरीर पुष्ट हो रहा है या नहीं इसकी अपेक्षा हमें इस पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है कि हमारे शरीर की पुष्टि कैसे (किस प्रकार के) अणुओं से हो रही है। यदि हमारा रुधिर अशुद्ध होगा तो उससे बने अंग भी मलिन होंगे और ये स्वास्थ्य भी दान-आदान (हवन) के सिद्धान्त पर—अशुद्ध अणुओं के छोड़ने तथा नये शुद्ध अणुओं के लेने के सिद्धान्त पर—आश्रित है। पर ये नये अणु किस प्रकार के आकृष्ट होंगे यह सबसे पहिले हमारे विचारों पर (मन पर) निर्भर है और फिर इस बात पर निर्भर है कि हमारे अंग ठीक प्राणाभ्यासों द्वारा अभीष्ट अणुओं के खींचने के अभ्यासी हो गए हैं या नहीं। अतः हमें

अपने विचारों को बड़े प्रबल, उत्साहमय और शुद्ध बनाना चाहिए, मन को आज्ञा देने वाला बनाना चाहिए और प्राणाभ्यास द्वारा शरीर को संसार-व्यापक महाप्राण से एकस्वर (In tune) रखना चाहिए। अपनी मनःशक्ति से प्राणायामों (ठीक प्रकार श्वसन के अभ्यास) के साधन द्वारा शरीर को शुद्ध और नित्य नव प्राणान्वित करना यही वास्तव में सच्ची शरीर-साधना (Physical Culture) है। इस ही प्रयोजन के लिए ये व्यायामें हैं।

ये व्यायामें प्राणाभ्यास-पूर्वक मनोयोग के साथ प्रतिदिन दो बार कर लेनी चाहिएँ—प्रातः उठते ही, यदि शौच व लघु-शंका का वेग हो तो उससे निवृत्त होकर, तथा रात्रि में सोने से पूर्व (यदि उस समय पेट भारी हो जो कि होना नहीं चाहिए, तो सायं भोजन से पूर्व) करनी चाहिएँ। व्यायाम शुरु करने से पूर्व ५, ७ बार उपरिनिर्दिष्ट पूर्ण श्वास-प्रश्वास कर लेना चाहिए, और अपने मन को स्वास्थ्य, शक्ति, पवित्रता आदि भावों से भरकर पूरे मनोयोग के साथ इन अभ्यासों को करना चाहिए।

१०. दो चित्र

वेदमन्त्रों के आशय को हृदयाङ्कित करने के लिए चित्रों का भी उपयोग करना बड़ा अच्छा है। अतः हमारा विचार है कि इस पुस्तक में प्रत्येक ऋतु के पहिले मन्त्र को, बल्कि

मास के पहिले मन्त्र को चित्रों द्वारा स्पष्ट किया जाय। प्रत्येक ऋतु और प्रत्येक मास का पहिला मन्त्र ऐसा ही रखा गया है जिसे कि चित्रित किया जा सके। इस खण्ड में आयी दोनों ऋतुओं के प्रारम्भिक मंत्र को अर्थात् प्रथम चैत्र और प्रथम ज्येष्ठ के मन्त्र को चित्रित भी किया गया है। चित्रकार महोदय का आभारी होता हुआ भी यह अवश्य कहना चाहता हूँ कि ये चित्र पूरे भाव को लाने में इतना अधिक दूर रहे हैं कि इन्हें पुस्तक में देने में बड़ा संकोच होता है तो भी इस आशा से कि इन मंत्रों से तन्मना हो सकने वाले कोई अज्ञात कलाविद् चित्रकार इन चित्रों को देखकर इस पुस्तक की इस भारी त्रुटि को दूर कर सकने में मुझे, गुरुकुल को सहायता प्रदान करने को प्रेरित हो सकेंगे ये चित्र भी दे दिए हैं।

११. धन्यवाद

अन्त में मैं अपने मित्र श्री देवनाथ जी विद्यालङ्कार को बहुत धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने कि न केवल छपाने के लिए बड़ी समझदारी और बड़े यत्न से इस पुस्तक की एक दूसरी ठीक ठीक प्रतिलिपि कर देने की कृपा की है, किन्तु इसके छपाने के सम्पूर्ण अति कठिन कार्य-भार को ही अपने स्वाभाविक बिलकुल अनन्य-भाव से सम्पन्न किया है।

इस पुस्तक के स्वाध्याय से लाभ उठाने वाले सज्जनों को वर्त्तमान वेदभाष्यकारों में मैं पं० श्रीपाद दा० सातवलेकर जी

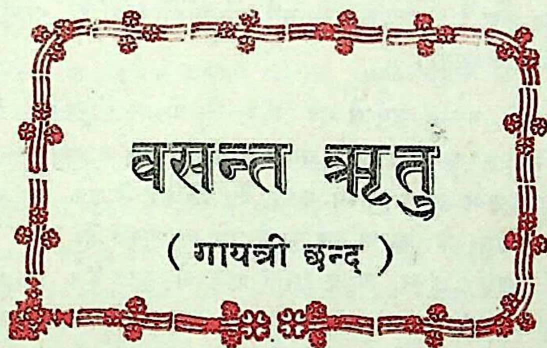
तथा श्री पं० जयदेव जी विद्यालङ्कार को भी हृदय से धन्यवाद देना चाहिए, क्योंकि मन्त्रों के चुनाव में तथा अर्थों के निश्चय करने में मुझे उक्त दोनों महानुभावों के भाष्य से बड़ी सहायता मिली है।

प्रथम खण्ड का यह द्वितीय संस्करण निकलने के लिए मैं स्वाध्यायशील पाठकों का भी धन्यवाद करता हूँ।

गुरुकुल कांगड़ी
१ माघ १९८९.

स्वाध्यायशील जनों का सेवक
'अभय'




वसन्त ऋतु
(गायत्री छन्द)

वसन्त की ऋतुचर्या

लक्षण—साधारणतः चैत्र और वैशाख मास की ऋतु वसन्त ऋतु मानी जाती है। कई फाल्गुन और चैत्र मास की ऋतु को वसन्त ऋतु कहते हैं। पूरे जाड़े (शीत) की ऋतु से पूरी गर्मी की ऋतु में पहुँचने में मध्य में दो ऋतुएँ पड़ती हैं, इनमें से एक जाड़े को समाप्त करने वाली है और दूसरी गर्मी का प्रारम्भ करने वाली है। यह दूसरी ऋतु वसन्त ऋतु है। इस ऋतु में गर्मी प्रारम्भ हो जाती है, परन्तु अपने पूर्ण रूप में नहीं आती।

महिमा—वसन्त ऋतु में नये जीवन का प्रारम्भ होता है। शिशिर ऋतु की रूक्षता से शीर्ण हुई वनस्पतियाँ फिर नए अंकुरों नए पत्तों, नए पुष्पों से नया जीवन प्रारम्भ करती हैं। शिशिर में सब वृक्ष वनस्पतियों की रूक्षता के कारण जब पुराने पत्ते झड़ चुकते हैं तब उन के नए पत्ते, फूल, अंकुर आदि वसन्त ऋतु में फूटते हैं। इस ऋतु में वनस्पतियों तथा स्थावर, अस्थावर जगत् का नवीन जीवन शुरू होता है। हमें भी अपना नवीन जीवन इस ऋतु में शुरू करना चाहिए। इस लिए वसन्त ऋतु ही सबसे पहिली ऋतु समझी जाती है और 'ऋतुराज' कहलाती है। श्रीकृष्ण जी ने गीता में कहा है "ऋतूनां कुसुमाकरः—" अर्थात् सब ऋतुओं में से सब से अधिक दिव्यता सब से अधिक परमात्मा के वैभव का प्रकाश इस ऋतु में ही होता है। इस ऋतु में जैसा जीवन प्रारम्भ किया जाएगा, उसका असर शेष सारे वर्ष पर पड़ेगा। इस ऋतु में हमें खूब अच्छी तरह से—सावधानी से अपने खान-पान, व्यवहार-विचार आदि पवित्र और सुन्दर बनाने चाहिएँ।

योगसाधन करने वाले वसन्त में (या शरद् में) ही अपना साधन

प्रारम्भ करते हैं। प्राणायाम का नया अभ्यास का प्रारम्भ भी वसन्त या शरद् में किया जाता है। अन्य ऋतुओं में प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करने से नाना रोग होने की सम्भावना होती है। इसका यह मतलब नहीं है कि अन्य ऋतुओं में प्राणायाम का अभ्यास छोड़ देना चाहिए। प्राणायाम को वसन्त या शरद् में प्रारम्भ करके ज़ारी तो हमेशा रखना चाहिए, परन्तु जो पुरुष प्राणायाम पहिले से न करता हो उसे प्राणायाम का या प्राण-सम्बन्धी किसी भी क्रिया का प्रारम्भ वसन्त वा शरद् में ही करना चाहिये। इसका कारण यह है कि प्राण की क्रियाओं का सम्बन्ध वात से है। अतः इसे यदि हम कफ और पित्त की अधिकता के समय में प्रारम्भ करें तो किसी प्रकार के वातविकार होने का डर नहीं होता।

हठयोगी लोग 'पट्कर्म' (नेति, धोती, वस्ती आदि कर्म) द्वारा शरीर की शुद्धि करने के लिए भी इस ऋतु को सब से अच्छा मानते हैं। वे लोग वर्ष में दो बार अर्थात् वसन्त और शरद् के प्रारम्भ में इन कर्मों द्वारा अपने शरीर की सफ़ाई अवश्य कर लिया करते हैं।

इस ऋतु में जहां नए पत्ते अंकुर आदि फूटते हैं वहाँ शरीर के दोष मल (Foriegn matter) भी फूटता है, इसलिए यदि इस ऋतु का हम ठीक उपयोग उठावें तो हम अपने शरीर को दोषों से रहित और निर्मल एवं पवित्र कर सकते हैं।

गुण--यह ऋतु पदार्थों में मधुरता उत्पन्न करनेवाली, स्निग्ध और कफ की वृद्धि करनेवाली है। जाड़ों (शीत) में सञ्चित कफ इस ऋतु में प्रकुपित होता है।

पथ्यापथ्य—वसन्त ऋतु में कफ़ प्रकुपित होता है, इसलिये कफ़ को दूर करने के सब उपाय इस ऋतु में करने चाहियँ।

शिशिर में स्निग्ध तथा शीत पदार्थों के सेवन के कारण शरीर में जो श्लेष्मा (कफ) सञ्चित हुई होती है वह वसन्त में सहसा गर्मी के पड़ने से प्रकुपित हो जाती है और कफजन्य रोग यथा ज़ुकाम, खाँसा, गले की खराबी, अरुचि, भूख न लगना, भारीपन आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतः इस ऋतु के प्रारम्भ में ही श्लेष्मा के क्षय के लिए यत्न करना चाहिए। कोई अच्छे प्रकार का अपनी प्रकृति के अनुसार उचित ढंग से एक बार वमन कर लेना चाहिए। वमन कर लेने से आमाशय की श्लेष्मा क्षीण होती है। इसी प्रकार गले की कफनाशक गरारों द्वारा, आँखों की कफनाशक अंजनों द्वारा तथा नाशिका की कफ-नाशक नस्यों द्वारा एवं आंतों की हलके विरेचन द्वारा कफ निवृत्ति कर लेनी चाहिए।

इस ऋतु में हलके रूक्ष, तीक्ष्ण, गरम पदार्थ खाने हितकर हैं, गेहूँ मूंग, चित्रक, शहद, सोंठ अद्रक आदि का सेवन अत्यन्त लाभ कर है।

इसके विरुद्ध इस ऋतु में कफवर्धक वस्तुएँ न खानी चाहिएँ। अर्थात् खट्टे, भारी, मीठे, चिकने तथा शीतवीर्य भोजन तथा दही भल्ले पकवान आदि गरिष्ट भोजन कफवर्धक होने से खाने उचित नहीं है।

इन दिनों कभी-कभी उपवास कर लेना लाभदायक होगा।

व्यायाम द्वारा भी श्लेष्मा दूर कर देनी चाहिये। इस ऋतु में भ्रमण करना बहुत अच्छा समझा जाता है—'वसन्ते भ्रमणं पथ्यम्।'

दिन में सोना कफवर्धक होने से वर्जनीय है।

उस कहावत के अनुसार चैत्र में गुड़ खाना और वैसाख में तेल खाना या तैल-मर्दन निषिद्ध है।

चैत्र मास

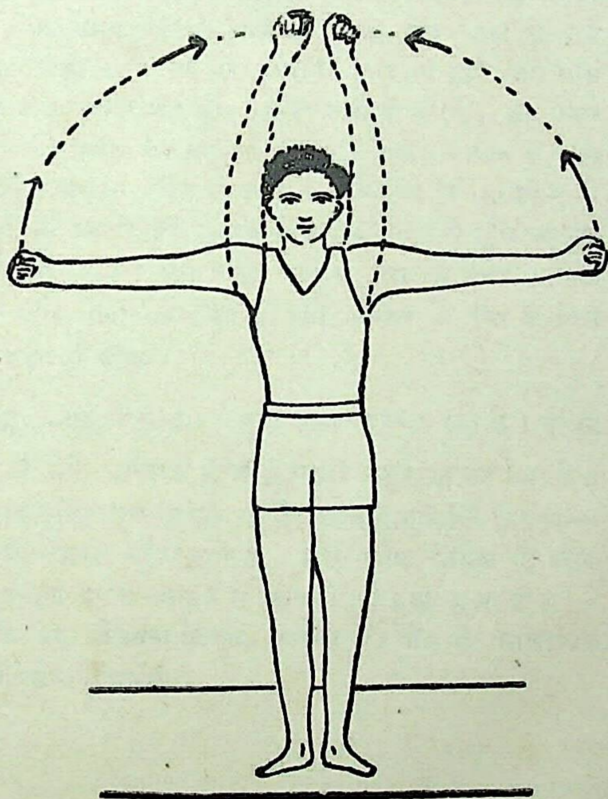
चैत्र मास (मीन)

के लिये

सिर को नीरोगता और स्वास्थ्य देनेवाला

प्राणदायक व्यायाम

एड़ियाँ मिलाकर, पंजों को एड़ियों से ३०-३५ अंश के कोन पर रखकर सीधे खड़े होइये । खड़े होकर अपनी दोनों भुजाओं को दाएँ बाएँ पूरा खोलकर फैला दीजिए, ऐसी सीधी फैलाइए कि ये कन्धों के साथ समतल फैली हों । हथेली ऊपर को तरफ़ रहें । छाती ज़रा-सी आगे बढ़ी हुई हो । अब हाथों की मुट्ठी इतनी ज़ोर से कसिये कि



चैत्र



भुजाओं की सब मांसपेशियाँ (Muscles) कस जांय और साथ ही सारे शरीर की मांसपेशियां तन जांय। इस अवस्था में भुजाओं को धीरे-धीरे ऊपर उठाते जाइये जब तक कि ऊपर दोनों मुट्ठियां मिल न जांय। जब ये भुजाएँ ऊपर उठायीं जा रही हों तब एक दीर्घश्वास अन्दर भरिए। जिस समय हाथों को नीचे ला रहे हों तब श्वास को धीरे धीरे बाहर निकालिए। यह कर चुकने पर हाथों की मुट्ठी और मांस पेशियों को ढीला कर दीजिए और पूर्वस्थिति में हो जाइए। इस प्रकार व्यायाम ८-१० मिनट तक बार-बार कीजिए। इस प्राणायाम के समय मन को सिर में लगाइए, मन द्वारा यह चिन्तित कीजिए कि प्राणवायु मेरे मस्तिष्क में, मेरे सिर में, मेरे एक-एक घटक (Cell) में पहुँच कर उसे अनुप्राणित कर रहा है। ऐसा ध्यान करने से सिर की तरफ़ रुधिर-संचरण (Circulation) बढ़ेगा और वास्तव में सिर में प्राण पहुंचने में सहायता करेगा।

ध्यान—यह प्राणायाम मुझे लाभ पहुंचा रहा है। रुधिर मेरे सिर में, मेरे मस्तिष्क में भली प्रकार सचरण कर रहा है। यहां के सब दूषित मल निकल रहे हैं और प्राणशक्ति निर्बाध—वे-रोकटोक--ऊपर पहुँच रही है। मेरा शीष निर्मल है और उसका एक-एक घटक स्वास्थ्य से जीवन-पूर्ण हुआ हुआ है।

सिर के लिए गौणतया आषाढ, आश्विन और पौष की प्राणदायक व्यायामें भी लाभ पहुँचायेंगी।

*

* *

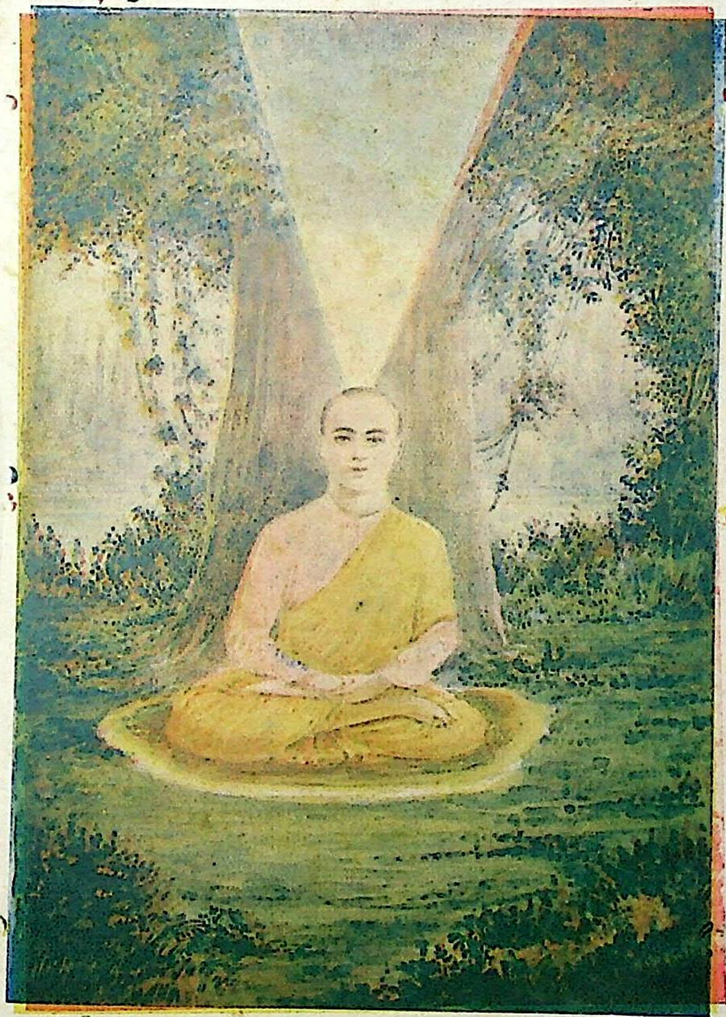


भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

ऋ० ३.६२.१० । यजु०३.३५ । साम०उ०६.३.१०॥

विनय

मुझे क्या करना चाहिये क्या नहीं; यह मैं नहीं जानता। किस समय क्या कर्त्तव्य है क्या अकर्त्तव्य; क्या धर्म है क्या अधर्म; यह मैं नहीं जान पाता। सुना है कि बड़े-बड़े ज्ञानी भी बहुत वार इस तरह किंकर्त्तव्यविमूढ़ रहते हैं। पर क्या इसका कोई इलाज नहीं है? हे सविता देव! हमारे उत्पादक देव! क्या तूने हमें उत्पन्न करके इस अंधेरे संसार में यों ही छोड़ दिया है? कोई निर्भ्रान्त (निश्चित) प्रकाश हमारे लिये तुमने नहीं दिया है। यह कैसे हो सकता है? नहीं, तुम अपने अनन्त प्रकाश के साथ सदा हमारे हो। यदि हम चाहें और यत्न करें तो तुम हमें अपने प्रकाश से आप्लावित कर सकते हो। इसके लिये हम आज से ही यत्न करेंगे और तेरे उस 'भर्ग' (विशुद्ध तेज) को अपने में धारण करने लगेंगे जोकि वरणीय है, जिसे कि हर किसी को लेना चाहिये—जिसे कि प्रत्येक मनुष्य-जन्म पानेवाले को अपने अन्दर स्वीकार करने की जरूरत है। इस तेरे वरणीय शुद्ध स्वरूप का हम जितना



भर्गो देवस्य धीमहि

श्रवण, मनन, निदिध्यासन करेंगे अर्थात् जितना तेरा कीर्त्तन सुनेंगे, तेरा विचार करेंगे, तेरे में मन एकाग्र करेंगे, तेरा जप करेंगे, तुझ में अपना प्रेम समर्पित करेंगे उतना ही तेरा शुद्ध स्वरूप हमारे अन्दर धारण होता जायगा। बस, यह ऊपर से आता हुआ तुम्हारा तेज ही हमारी बुद्धि को और फिर हमारे कर्मों को ठीक दिशा में प्रेरित करता रहेगा। इस शुद्ध स्वरूप के साथ तुम ही मेरे हृदय में बस जाओगे और तुम ही मेरे बुद्धि, मन आदि सहित इस शरीर के संचालक हो जाओगे। फिर धर्म अधर्म की उलझन कहां रहेगी! तुम्हारे पवित्र संस्पर्श से इस शरीर की एक एक चेष्टा में शुद्ध धर्म की ही वर्षा होगी। इस लिये हे प्रभो! हम आज से सदा तुम्हारे शुद्ध तेज को अपने में धारण करने में लगते हैं। एक एक मानसिक विचार के साथ, एक एक जप के साथ इस तेज का अपने अन्दर आह्वान करेंगे और इस तरह प्रतिदिन इस तेज को अपने में अधिक-अधिक एकत्र करते जायँगे। निश्चय है कि इस 'भर्ग' की प्राप्ति के साथ-साथ धर्म के निश्चय में पटु होती जाती हुई हमारी बुद्धि एक दिन तुम्हारी सर्वज्ञता के कारण पूरी तरह बिल्कुल ठीक मार्ग पर ही चलने वाली हो जायगी।

शब्दार्थ

(सवितुः) प्रेरक उत्पादक (देवस्य) परमात्मदेव के (तत्) (वरेण्यं) वरने योग्य (भर्गः) शुद्ध तेज को (धीमहि) हम धारण करते हैं, ध्यान करते हैं (यः) जो धारण किया हुआ तेज (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को, कर्मों को, (प्रचोदयात्) सदा सन्मार्ग पर प्रेरित करता रहे।



उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयं ।
नमो भरन्त एमसि ॥

ऋ० १.१.७। साम० पू. १.२.४॥

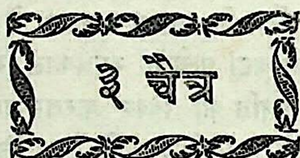
विनय

जब से हम उत्पन्न हुए हैं, दिन के पश्चात् रात और रात के पश्चात् दिन आ जाता है। प्रति दिन एक नया-नया दिन और एक नयी-नयी रात आती जाती है। इस तरह यह अनवरत अविश्रान्त काल-चक्र चल रहा है। इस काल-चक्र में हम कहां जा रहे हैं ? हे मेरे प्रभु अग्नि देव ! तुमने तो ये अहोरात्र इसलिये रचे हैं कि प्रत्येक अहोरात्र के साथ अपनी आत्मिक उन्नति का दायाँ और बांयाँ पैर आगे बढ़ाते हुए हम प्रतिदिन तुम्हारे निकट-निकट पहुँचते जांय। यदि हम प्रत्येक अहोरात्र के आरम्भों में अर्थात् प्रातःकाल और सायंकाल के समय में

अपनी बुद्धि द्वारा तुम्हारे आगे झुकते हुए, नमन करते हुए तथा कर्म द्वारा भी अपने "नमः" की भेंट तुम्हारे प्रति लाते हुवे, तुम्हारे लिये स्वार्थ-त्याग करते हुए चलेंगे तो यह दिन-रात का चक्र हमें एक दिन तुम्हारे चरणों में पहुंचा देगा। इसलिये, हे अग्निरूप परमदेव ! हम आज से निश्चय करते हैं कि हम प्रत्येक अहोरात्र को (प्रातःकाल और सायंकाल) अपनी बुद्धि तथा कर्म द्वारा तुम्हें नमस्कार की भेंट चढ़ाते हुए (आत्म-समर्पण व स्वार्थ-त्याग करते हुवे) ही अब जीवेंगे और इस तरह जहां प्रत्येक दिन के श्रममय काल में हमारा दांयाँ पग तुम्हारी तरफ़ बढ़ेगा वहां प्रत्येक रात्रिकाल में हमारी उन्नति का बांयाँ पग उस उन्नति को स्थिर करता जायगा। हे प्रभो ! ये दिन-रात इसीलिये प्रतिदिन आते हैं। निश्चय ही आज से प्रत्येक अहोरात्र हमें तुम्हारे समीप लाता जायगा। आज से प्रतिदिन हम स्वार्थ-त्याग द्वारा पवित्रान्तःकरण होते हुए और पवित्रान्तःकरण से प्रातः सायं तुम्हारी वन्दना करते हुए प्रति-दिन तुम्हारी तरफ़ आने लगे हैं, हे प्रभो ! प्रतिदिन तुम्हारे समीप आते जा रहे हैं।

शब्दार्थ

(अग्ने) हे अग्ने ! (वयं) हम (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) रात और दिन के समय (धिया) बुद्धि व कर्म से (नमो भरन्त) नमस्कार की भेंट लाते हुए (त्वा) तेरे (उप) समीप (एमसि) आ रहे हैं।



अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि
स इद् देवेषु गच्छति ।।

ऋ० १. १. ४ ।।

विनय

हम कई शुभ अभिलाषाओं से कुछ यज्ञों को प्रारम्भ करते हैं और चाहते हैं कि यज्ञ सफल हो जाँय। परन्तु हे देवों के देव अग्निदेव! कोई भी यज्ञ तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि उस यज्ञ में तुम पूरी तरह व्याप न रहे हो, चूंकि जगत् में तुम्हारे अटल नियमों व तुम्हारी दिव्य-शक्तियों के अर्थात् देवों के द्वारा ही सब कुछ सम्पन्न होता है। तुम्हारे बिना हमारा कोई यज्ञ कैसे सफल हो सकता है? और जिस यज्ञ में तुम व्याप्त हो वह वह यज्ञ अध्वर (ध्वरा अर्थात् कुटिलता और

हिंसा से रहित) तो ज़रूर होना चाहिये। पर जब हम यज्ञ प्रारम्भ करते हैं, कोई शुभ कर्म करते हैं, किसी संघ संगठन में लगते हैं, परोपकार का कार्य करने लगते हैं तो मोहवश तुम्हें भूल जाते हैं। उसकी जल्दी सफलता के लिये हिंसा और कुटिलता से भी काम लेने को उतारू हो जाते हैं, तभी तुम्हारा हाथ हमारे ऊपर से उठ जाता है। ऐसा यज्ञ तुम्हारे देवों को स्वीकृत नहीं होता उन्हें नहीं पहुँचता—सफल नहीं होता। हे प्रभो! अब जब कभी हम निर्बलता के वश अपने यज्ञों में कुटिलता व हिंसा का प्रवेश करने लगें और तुम्हें भूल जाँय तो हे प्रकाशक देव! हमारी अन्तरात्मा में एक बार इस वैदिक सत्य को जगा देना, हमारा अन्तरात्मा बोल उठे कि "हे अग्ने! जिस कुटिलता व हिंसा-रहित यज्ञ को तुम सब तरफ़ से घेर लेते हो, व्याप लेते हो; केवल वही यज्ञ देवों में पहुँचता है अर्थात् दिव्य फल लाता है—सफल होता है।" सचमुच तुम्हें भुलाकर, तुम्हें हटाकर यदि किसी संगठन शक्ति द्वारा कुटिलता व हिंसा के ज़ोर पर कुछ करना चाहेंगे तो चाहे कितना घोर उद्योग करें पर हमें कभी सफलता न होगी।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे परमात्मन्! (त्वं) तुम (यं) जिस (अध्वरं यज्ञं) कुटिलता तथा हिंसा से रहित यज्ञ को (विश्वतः परि भूः असि) सब तरफ़ से व्याप लेते हो (स इत्) केवल वही यज्ञ (देवेषु गच्छति) दिव्य फल लाता है।

*

* *



यद् अंग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत् तत् सत्यमंगिरः ॥

ऋ० १.१.६॥

विनय

हे प्रकाशमय देव ! यह सच है कि स्वार्थत्यागी का कल्याण ही होता है। पर दुनियां में ऐसा दिखाई नहीं देता। दुनिया में तो दीखता है कि स्वार्थमग्न लोग ही आनन्द मौज उड़ा रहे हैं और स्वार्थत्यागी दुःख भोग रहे हैं। स्वार्थी विजय पर विजय पा रहे हैं, दूसरों पर जुल्म कर रहे हैं और स्वार्थ-त्यागी पुरुष सताये जा रहे हैं। परन्तु हे मेरे प्यारे देव ! हे मेरे जीवनसार ! आज मैं तेरी परम कृपा से सूर्य की तरह यह साफ देख रहा हूँ कि आत्म-बलिदान करने वाले का तो सदा कल्याण ही होता है। इसमें कुछ संशय नहीं रहा, यह यह अटल है, बिल्कुल स्पष्ट है। दुनिया की ये प्रतिदिन की उलटी दिखाई देने वाली घटनायें भी आज मेरी खुली आँखों के सामने से प्रकाशमान सत्य को छिपा नहीं सकती हैं कि आत्म-

समर्पण करने वाले के लिये कल्याण ही कल्याण है। देखता हूं कि दुनिया में चाहे कभी सूर्य टल जाय, ऋतुएँ बदल जायँ पृथ्वी उल्टी घूमने लग जाय और सब असंभव संभव हो जाय पर यह तेरा सत्य अटल है कि आत्म-बलिदान करने वाले का अकल्याण कभी नहीं हो सकता—"नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति" ["हे प्यारे! कल्याण करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता"] कृष्ण भगवान् के गाये हुए ये सान्त्वनामय शब्द परम सच्चे हैं।

हे जीवन के जीवन! जब मनुष्य स्वार्थ को त्यागता है, आत्म-बलिदान करता है तो उस त्याग व बलिदान द्वारा हे कल्याणस्वरूप! वह केवल तेरे और अपने बीच की रुकावट का ही त्याग करता है, निवारण करता है और तेरे कल्याण-स्वरूप को पाता है, भला, आत्म-बलिदान में अकल्याण की गुंजाइश ही कहां है? सचमुच, स्वार्थशून्य पवित्र पुरुषों पर आये हुए कष्ट, दुःख, आपत् सब क्षणिक होते हैं। उनके सम्बन्ध में जो अक्षणिक है, सत्य है, अटल है वह तो उनका कल्याण है।

शब्दार्थ

(अंग) हे प्यारे! (अंगिरः) मेरे जीवनसार (अग्ने) प्रकाशक देव! (यत् त्व) जो तू (दाशुषे) आत्म बलिदान करने वाले का (भद्रं) कल्याण (करिष्यसि) करता है (तत्) वह (तव) तेरा (सत्यं इत्) सच्चा, न टलनेवाला नियम है।







स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥

ऋ० १ . १. ९॥

विनय

संसार में हमारा जिन द्वारा जन्म होता है उन्हें हम पिता कहते—हैं और भी जो वृद्ध पुरुष गुरु आदि होते हैं वे भी हमारा उत्कृष्ट पालन करने वाले होने से पिता कहलाते हैं। परन्तु हे प्रभो अग्ने ! हम सभी को कभी न कभी अनुभव हो जाता है कि हमारे असली पालक पिता तो तुम्हीं एक मात्र हो। एक समय आता है जब कि सांसारिक पिता भी वैसे ही रोते खड़े रह जाते हैं और हमारी पालना, रक्षा नहीं कर सकते। सचमुच संसार के हम सब वासी—सांसारिक पिता व पुत्र सब के सब—तेरे एक समान पुत्र हैं। हे हम सब के पिता !

हे परम पिता! जब हम सब तेरे पुत्र हैं तो हमारी तेरे तक हमेशा पहुंच क्यों नहीं होती है? पुत्र का तो यह अधिकार है कि वह जब चाहे पिता के पास पहुँच सके। जब इस संसार में और कोई हमारी रक्षा कर सकने वाला है ही नहीं, हमारा दुखड़ा सुन सकने वाला है ही नहीं, तो हे पिता! हम और कहाँ जांय! तू तो हमारे लिये 'सु उपायन' रह, सुगमता से पहुंच सकने वाला हो। हे एक-मात्र पिता! हम जिस समय चाहें, जिस जगह चाहें तुझे मिल सकें—अपना दुःख सुना सकें—अपनी बाल-कामनायें पूरी करा सकें। हम बच्चों की तुम से यही प्रार्थना है, यही याचना है।

और हमारा कल्याण किसमें है, यह भी हम अबाध बालक क्या जानें। जो हमें अकल्याण दिखाई देता है वही पीछे पता लगता है कि वह कल्याण था। हे पिता! तुम्हीं जानते हो कि हम बच्चों का कल्याण किसमें है। बस, तुम्हीं हमारी स्वस्ति के लिये, कल्याण के लिये हमें—अपने बच्चों को—सेवित करो, पालो-पोसो। हम तुम्हारे बच्चे हैं! हम तुम्हारे बच्चे हैं!!

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे प्रभो अग्ने! (स) वह तुम (पिता सूनवे इव) पिता की तरह मुझ पुत्र के लिये (सु उपायनः भव) सुगमता से पहुँचने योग्य (भव) होओ और (स्वस्तये) कल्याण के लिए (नः) हमें (सचस्व) सेवित करो।

*

* *



६ चैत्र

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः॥

ऋ० १०. ५७. १॥ अथर्व १३. १. ५९॥

विनय

हे इन्द्र, परमैश्वर्यवान्! हम तुमसे ऐश्वर्य नहीं माँगते हैं। हमारी तुमसे याचना तो यह है कि हमें सदा सन्मार्ग पर चलते जायँ, इसको कभी न छोड़ें। सन्मार्ग पर चलते हुए हमें जो कुछ ऐश्वर्य मिलेगा वही सच्चा ऐश्वर्य होगा। जिस किस तरह मिला हुआ 'ऐश्वर्य' ऐश्वर्य नहीं होता—उसमें ईश्वरत्व नहीं होता—सामर्थ्य नहीं होता। सन्मार्ग से जो कुछ ऐश्वर्य मुझे मिलेगा, उस ऐश्वर्य को तुझसे पाकर हे इन्द्र! मेरी प्रार्थना है कि मैं यज्ञ से कभी विचलित न होऊं। यज्ञ करता हुआ—उपकार करता हुआ ही मैं उस तेरे दिये ऐश्वर्य को भोगूँ। जो कुछ तुम्हारे द्वारा (तुम्हारे देवों द्वारा) मुझे

मिला है, उसे तुम्हें (देवों को) बिना दिये भोगना चोरी[१] है। ऐसा पाप स्वार्थवश हम कभी न करें। यज्ञ को, आत्म-त्याग को, परार्थ में आत्म-विसर्जन को कभी न भूलें। यज्ञ के बिना भोग भोगना विषपान करना है। अतः हमारी दूसरी प्रार्थना है कि हम यज्ञ को कभी न छोड़ें।

हमारी तुमसे यह प्रार्थना नहीं है कि तुम हमारे शत्रुओं को नाश कर दो। हमारी याचना तो यह है कि हमारे अपने अन्दर 'अराति'[२] न ठहरें। हमारे अन्दर अराति न हों तो बाहर हमारा अराति कोई कैसे हो सकता है। अराति अर्थात् अदानभाव हमारे अन्दर क्षण भर को न ठहरें, क्षण भर के लिये न आवें। अदानभाव होते हुए यज्ञ असम्भव है। अतः हमारा एक-मात्र शत्रु अदानभाव ही है। यह अन्दर का शत्रु ही हमारा शत्रु है। हे प्रभो! इससे हमारी रक्षा करो। फिर बाहर के किसी शत्रु की हमें परवाह नहीं।

शब्दार्थ—

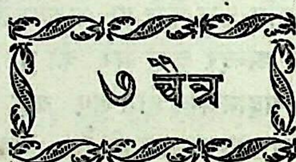
(इन्द्र) हे परमेश्वर! (वयं) हम (पथो मा प्रगाम) सन्मार्ग को छोड़ कर मत चलें (सोमिनः) ऐश्वर्ययुक्त होते हुए (वयं यज्ञात्) (मा प्रगाम) हम यज्ञ को छोड़ कर मत चलें (अरातयः) अदानभाव (नः अन्तः मा स्थुः) हमारे अन्दर न ठहरें।

*

* ❀

१ देखो गीता ३. १२।

२ अराति का अर्थ शत्रु प्रसिद्ध है—इसका शब्दार्थ 'दान न देना' है।



प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम् !
स नः पर्षद् अति द्विषः ।

ऋ० १०. १८७. १। अथर्व० ६. ३४. १॥

विनय

हे मनुष्य ! क्या तू अब चाहता है कि तू द्वेष से पार हो जाय ? क्या तू अपने मनुष्य भाइयों से द्वेष करके, और बदले में उनके द्वेष को पा पाकर अब तंग आ चुका है ? तूने अपने सुख में बाधक समझ न-जाने कितनों से द्वेष किया है, पर जितना ही तूने उनसे द्वेष किया है—वैर का बदला वैर से दिया है—क्या उतना ही वह द्वेष बढ़ता नहीं गया है ? ओह, इस बदले की, प्रतिद्वेष की प्रक्रिया से द्वेष इतना बढ़ता गया है कि तू आज अपने बनाये एक द्वेष-सागर में घिर गया है।

यदि तू अब पूरा व्याकुल हो चुका है और चाहता है इस द्वेष-चक्र से पार हो जाय तो तू उठ और जगत् में व्यापक अपने उस अग्निदेव तक अपनी वाणी को पहुँचा, जो कि सब मनुष्यों की कामनाओं को पूरा करनेवाला है। अरे, वह तो 'वृषभ' है, हम पर करुणा करके कामनाओं को बरसा रहा है। केवल उस तक अपनी आवाज़ पहुंचाने की देर है कि वह तेरी कामना पूरी कर देगा। यदि यह तेरी इच्छा हार्दिक है तो निश्चय से तेरी प्रार्थना, तेरी पुकार, वेग से, प्रकृष्टता से कहां पहुँचेगी। यदि वाणी को प्रकृष्टता से प्रेरित करने का हममें सामर्थ्य हो तो प्रार्थना की वाणी उस अग्निदेव को पहुँचकर उससे क्या नहीं करा सकती, किस कामना की पूर्ति नहीं करा सकती। पर हमारी कामना को पूरी करने की सामर्थ्य उसी में है—केवल उसी में है। वही हमें द्वेष-सागर से पार करेगा। इसलिये तू अपने सुख में बाधक समझ कर अब किसी से द्वेष न कर, किन्तु सुख के बरसाने वाले उस प्रभु से प्रार्थना कर और फिर देख कि द्वेष कहाँ हैं। प्रार्थना द्वारा उस प्रभु के सन्मुख पहुँचते ही सब द्वेष समाप्त हो जायगा।

शब्दार्थ—

(क्षितीनां) मनुष्यों के (वृषभाय) अभीष्टों को बरसाने वाले (अग्नये) अग्नि प्रभु के लिये (वाचम्) अपनी वाणी को (प्र ईरय) प्रकृष्टता से प्रेरित कर (स) वह (नः) हमें (द्विषः) द्वेषों से (अति पर्षत्) पार लगावेगा।



सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्धयामो वचोविदः।
सुमृडीको न आविश ॥

ऋ० १.९१.११ ॥

विनय

हे प्रशान्तस्वरूप सोमदेव ! तुम सब जगत् के सार हो, जीवन रस हो, तो भी प्रकृति के विषयों में फँसा हुआ मनुष्य-संसार तुम्हें नहीं जानता, तुम कुछ हो यह कभी अनुभव नहीं करता। इसलिये हम लोग जिन्होंने तुम्हारी दया से तुम्हारी थोड़ी बहुत अनुभूति का सुख पाया है, अपना यही कार्य समझते हैं कि पागलों की तरह सब जगह तुम्हारे गुण गाते फिरें—फिरा करें। तुम्हारी भक्ति ने ही हमें "वचोविद्" भी बना दिया है— तुम्हारी भक्ति से हम वाणी की शक्ति को, रहस्य को जान गये हैं और इस शक्ति का प्रयोग करना भी जान गये हैं अतः अपनी वाणियों से हम सदा तुम्हारा कीर्त्तन करते हैं, तुम्हारा यश गाते हैं, तुम्हारे स्वरूप का वर्णन करते हैं। जहाँ विषयग्रस्त मानवी हृदयों ने तुम्हें निकाल रखा है या जहाँ प्रकृतिवाद ने तुम्हारे लिये जगह नहीं रखी है, वहाँ भी तुम्हारा

नाम फैलाते हैं, तुम्हें पहुँचाते हैं। मानो तुम्हारे सैनिक बन कर सांसारिक दृष्टि से तुम्हारा राज्य बढ़ाने का यत्न करते हैं। पर, हे देव ! तुम इतना करो कि हमारे अन्दर सात्विक सुख के दाता होते हुए सदा प्रविष्ट रहो, बस हम यही चाहते हैं। हम तुच्छ लोग तुझे कहाँ से बढ़ा सकते हैं! हम तुझे फैलाते हैं! असल में तुम ही, हे सर्व शक्तिमान् ! हे अनन्त अपार ! असल में तुम ही हमारे अन्दर जितना प्रविष्ट होते हो उतना ही हममें वह तुम्हारा अवर्णनीय सात्विक सुख अनुभूत होता है कि उस आनन्द में मस्त होकर हम तुम्हारे गुण गाते फिरते हैं। बल्कि तब हमारे एक-एक अङ्ग से, हमारी एक-एक हरकत से, तुम्हारा प्रकाश होता है। अतः हमारी यही प्रार्थना है कि तुम हमारे अन्दर प्रविष्ट होओ, तुम हमारे में आविष्ट होओ। जितनी मात्रा में तुम हमारे में प्रविष्ट होगे, उतनी ही मात्रा में हमारे द्वारा जगत् में तुम्हारा प्रचार व प्रकाश होगा। हे प्रभो ! इस सात्विक सुख से हम अनुप्राणित करते हुए हममें आविष्ट होओ।

शब्दार्थ—

(सोम) हे सोम देव ! (वयं वचोविदः) वाणी के वेत्ता हम (त्वा) तुझे (गीर्भिः) अपनी वाणियों द्वारा (वर्धयामः) बढ़ाते हैं। (सुमृडीकः) अच्छे सुख देने वाले होते हुए तुम (नः आविश) हममें प्रविष्ट होवो।



६ चैत्र

तुंजे तुंजे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥

ऋ० १.७.७ अथर्व० २० ७०. १३ ॥

विनय

भगवान् नें मुझ पर कितनी कृपा की है, इसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। जब जिस वस्तु की आवश्यकता मेरे कल्याण के लिये हुई तभी वह वस्तु कहीं से आ मिली। वह कल्याण-स्वरूपिणी माता पुत्र की एक-एक ज़रूरत को पूरी तरह जानती हुई चिन्ता-पूर्वक देती जाती है। ओह, उसकी करुणा अपार है। इस भगवान् के जगत् में रहने वाले बहुत से मनुष्य न जाने क्यों संतोष का परित्याग किये रहते हैं और

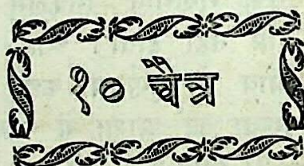
घबराते हैं। वे या तो प्रत्येक प्राणी को दी गई भगवान् की स्वाभाविक देनों का मूल्य नहीं समझते या वे अकृतज्ञ हैं। पहली बात ही ठीक समझी जा सकती है। पर मैं तो यही कहूंगा और बिना थके कहता जाऊँगा कि पाप से हटाने वाले उस परमैश्वर्य युक्त इन्द्र भगवान् ने मुझे निहाल कर दिया है, मुझे पाप और दुःख के गर्त्त से उबारा है। एक के बाद एक ऐसा आन्तरिक सुख मिलता गया है कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता जब-जब उसकी ये देनें याद आती हैं तो आनन्दाश्रुओं से मैं गद्गद् हो जाता हूं और मेरे मुख से कृतज्ञता भरी वाणी से उसके गुणगान निकलने लगते हैं; स्तोत्र गाता जाता हूं पर तृप्ति नहीं होती। ओह, यह अपूर्ण वाणी हृदय के अनुभूत भाव को पूर्णतया कहाँ प्रकट कर सकती है! फिर भी मैं पूर्णता की आशा में बार-बार गाता जाता हूँ—गाता जाता हूँ—पर स्तुति कभी पूरी नहीं होती। यह कभी अनुभव नहीं हो पाता कि उसकी दिल भर के स्तुति हो गयी। ओह, उसकी स्तुति का कौन पार पा सकता है! "अपार तेरी दया, अपार तेरी दया।"

शब्दार्थ—

(तुंजे तुंजे) एक एक दान पर मैं (वज्रिणः इन्द्रस्य) पापवर्जक इन्द्र की (ये उत्तरे स्तोमाः) अधिक अधिक स्तुति करता जाता हूँ उन सबसे भी (अस्य सु स्तुतिं) उसकी स्तुति का पार (न विन्धे) नहीं पाता हूँ।

*

* *



आत एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥

ऋ० १०. ५७.४ ॥

विनय

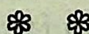
हे मनुष्य ! जो तू इतना निर्बल, हतोत्साह और शिथिल हो गया है इसका कारण तेरे मन की निर्जीवता है। तेरा मन निर्जीव हो गया है, मानों तुझ में मन रहा ही नहीं है। तेरे रोग का और कोई कारण नहीं है। तू अपनी इस मन्दता को—निर्बलता को—दूर करने के लिये यों ही अप्राकृतिक दवायें खाता फिरता है। इनसे कुछ नहीं बनेगा। "वहम का इलाज

लुक़मान के पास भी नहीं है।" ज़रा वहम को छोड़कर अपने अन्दर उस जगद्व्यापक मन की धारा को प्रविष्ट होने दे जो कि सब संसार में व्यापक है और सब संसार को चला रही है—प्रत्येक मनुष्य के मन को हिला रही है। उस मनोमय धारा को तू जितना अपने अन्दर ग्रहण करेगा उतना तेरा मन सजीव होता जायगा। तब तू फिर से ठीक तरह "क्रतु"—कर्म—कर सकेगा, तेरे अन्दर "दक्ष"—बल—आजायगा और तुझ में एक नए जीवन का संचार हो जायगा। और जगत् को प्राण देने वाले जो सूर्य देव हैं उनका दर्शन करता हुआ—उनसे प्राण लेता हुआ—तू दीर्घ आयु तक जीवित रहेगा। यह सब मनः-शक्ति के प्रवेश का चमत्कार है। अतः हमारी तो परमात्मा से यही प्रार्थना है कि तुझ में मनःशक्ति का प्रवेश हो। इसी में तेरा कल्याण है। मनःशक्ति के बिना तो अन्य भी किसी उपचार से लाभ नहीं उठाया जा सकता। अतः मन ही को बढ़ा, मन ही को जगा, मन ही को चैतन्य कर।

शब्दार्थ—

(मनः) मन का (ते) तुझमें (पुनः) फिर (आ एतु) प्रवेश हो जावे। जिससे कि तू (क्रत्वे) कर्म करने लगे (दक्षाय) तुझ में बल आजाय (जीवसे) जीवन आ जाय (ज्योक् च) और तू चिरंजीवी होता हुआ (सूर्यं दृशे) निरन्तर सूर्यदर्शन करता रहे।







इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्।
जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥

ऋ० २.४१.१२ अथर्व० २०.५७.१० ॥

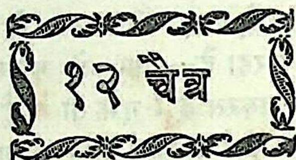
विनय

मैं डरता क्यों हूँ? इस परमेश्वर को (इन्द्र की) सृष्टि में रहते हुए तो किसी भी काल में, किसी भी देश में भय का कुछ भी कारण नहीं है। क्या मैं अपने शत्रुओं से डरता हूँ? मेरा तो इस इन्द्र की सृष्टि में को: शत्रु नहीं होना चाहिये। मेरा कोई शत्रु है ही नहीं। हाँ, एक अर्थ में पाप करने वाले मनुष्यों को शत्रु कहा जा सकता है, क्योंकि पाप करना परमात्मा से शत्रुता करना है—पाप करना ईश्वरीय शासन का विरोध करना है। पर ऐसे पाप करने वाले भाई से भी मुझे डरने की क्या जरूरत है? यह ठीक है कि ऐसे पाप करने वाले भाई तब मुझे अपना शत्रु समझ लेंगे जब कभी कि उन के पाप का विरोध करना मेरा कर्त्तव्य हो जायगा और तब वे मुझे अपना शत्रु मानकर नाना प्रकार से सताने—कष्ट देने—को भी उद्यत होंगे। पर उस पापी भाई के सताने से भी मेरा क्या बिगड़ेगा, वह तो बिचारा स्वयं परमात्मदेव का मारा हुआ है। परमात्मा तो स्वभावतः 'शत्रून् विजेता' हैं। उससे शत्रुता करके अर्थात् पाप करके कौन बचा रह सकता है? यदि यह विश्वास पक्का हो जाय कि परमात्मा 'शत्रून् जेता' है तो अज्ञानी पा

पुरुषों की तरफ़ से आए हुए बड़े से बड़े सन्तापों का, घोर से घोर अत्याचारों का भी भय हट जाय। ऐसा विचार थोड़ी देर के लिये आने पर ही एक दम निर्भयता हो जाती है। और फिर उसे सचमुच 'विचर्षणि' समझ लेने पर तो कोई भय रहता ही नहीं। देखो, वह "विचर्षणि" परमेश्वर सब प्राणियों के सब कर्मों को ठीक-ठीक देखता हुआ पाप और पुण्य का फल दे रहा है। वह ठीक ढंग से ठीक समय हरेक पाप का विनाश कर रहा है—पाप को परास्त कर रहा है तो मुझे डरने की क्या ज़रूरत है? मुझे तो कोई दुःख-क्लेश तभी मिलेगा यदि मेरा ही कोई पापकर्म उदय होगा। नहीं तो किसी अन्य मनुष्य की चाहना से मुझे क्लेश कभी नहीं हो सकता है। और यदि मेरे अपने ही पाप-कर्मों के कारण कोई क्लेश आता है वह तो आना ही चाहिये। उसे मैं खुशी से सह सहकर निष्पाप और उऋण होता जाऊँगा। वह क्लेश उस 'शत्रु' का भेजा हुआ नहीं है, किन्तु मेरे प्यारे परमेश्वर का भेजा है, उसका तो मुझे स्वागत करना ही चाहिये। एवं इस संसार में—चारों दिशाओं में, मेरा अब कोई दुःख दे सकने वाला शत्रु नहीं रहा है। जब से प्रभु को 'विचर्षणि' और 'शत्रून् जेता' जान लिया है तब से मैं अभय हो गया हूँ—सब तरफ़ से अभय हो गया हूँ—किसी दिशा से कोई भय नहीं। अभय, अभय।

शब्दार्थ—

(इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर, मुझे (सर्वाभ्य आशाभ्यः परि) सब दिशाओं से (अभयं करत्) अभय कर दे। (शत्रून् जेता) जो कि परश्वमेर शत्रुओं को जीतने वाला है। (विचर्षणिः) और सब कुछ [हर एक प्राणी के हर एक कर्म को] पूरी तरह देखने वाला है।



आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते ।
उश्मसि त्वा सधस्थ आ ॥

ऋ० ८.४५.२० ॥

विनय

—हे भगवन् ! मैं बुड्ढा हूँ और तुम मेरी लाठी हो। तु मेरे सहारे हो। मेरा इस जन्म का यह देह चाहे वृद्ध न दीखता हो, पर मैं सच्चे अर्थ में जीर्ण हूँ, पुराना हूँ अतए अनुभवी हूँ। मैं न जाने कितनी योनियों में फिरा हूँ—स संसार भोग चुका हूँ। पर अब मैं तुम्हें "शवसस्पते" करे सम्बोधन करता हूं। क्योंकि मैंने सुदीर्घ अनुभव से जान लिय है कि सब बलों के स्वामी तुम्हीं हो। मैं ने कभी बड़ा धनाढ होकर धनबल का अभिमान किया है, किसी समय यह समझ है कि मेरे साथ इतना बड़ा भारी दल है, सो जो मैं चा कर सकता हूँ, इस तरह दलबन्दी के बल को भी आज माया है, कभी अपने बुद्धि-बल, चतुराई-बल के मुकाबिले

सब दुनिया को हेच समझा है। शरीर-बलों और सब शस्त्र-बलों का तो कहना ही क्या है! पर इतने लम्बे, अनगिनत योनियों के सुदीर्घ अनुभवों के बाद जीर्ण होकर--पुराना होकर अब समझा है कि सब बलों के स्वामी तो तुम हो। इसलिये अब और सब बलों का सहारा छोड़ कर एक तुम्हारा सहारा पकड़ लिया है। हे मेरे एक-मात्र बल! तुम मुझ से अब क्षणभर के लिये भी मत दूर होओ। अब मैं यदि क्षण भर के लिए भी तुमको भूल जाता हूं—अपने मानसिक विचार—नेत्र के सामने से क्षणभर के लिये भी तुम्हें ओझल पाता हूँ—तो मैं व्याकुल हो जाता हूँ—एक दम निस्सहाय हो जाता हूँ। अतः अब तो यही सतत कामना है कि तुम सदा ही मेरे सामने और मेरे साथ ही बने रहो। बुड्ढे की लाठी जब आँखों के सामने पड़ी हो—पर उसकी पहुँच के परे पड़ी हो—तब तो उसका सहारा न पा सकते हुए उसका दिखाना बुड्ढे के लिये और भी दुःखदायक हो जाता है। इसलिये हे मुझ वृद्ध की लाठी! हे मुझ निर्बल के बल, हे मेरे एक मात्र सहारे! तुम अब सदा मेरे साथ रहो—सधस्थ बने रहो। तुम से ज़रा भी दूर हो कर अब मैं नहीं रह सकता।

शब्दार्थ—

(शवसः पते) हे सब बलों के स्वामी! (जिव्रयः) बुड्ढा पुरुष (रम्भं न) जैसे डंडे को (त्वा) उस तरह तुझको मैंने (आरम्भ) अवलम्बन कर लिया है। और अब मैं (त्वा) तुझे (सधस्थे) अपने समान स्थान में (आ) आमने सामने--आँखों के सामने (उश्मसि) चाहता हूँ--देखना चाहता हूँ।



इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादं अतन्द्रा ॥

ऋग्वेद० ८. २. १८ ॥ अथर्व० २०. १८. ३ ॥

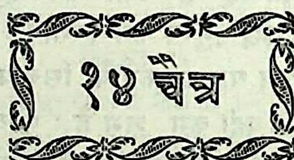
विनय

आलस्य मनुष्य का बहुत बड़ा शत्रु है। हम जो नित्य पाप करते हैं उनमें से बहुतों का कारण मन की कुटिलता नहीं होता किन्तु बहुत बार केवल हम आलस्य व सुस्ती के कारण पापी बनते हैं। एवं बहुत से अत्यन्त लाभकारी कार्यों को शुरु करके केवल आलस्य से हम उन्हें छोड़ देते हैं और आत्म-कल्याण से वंचित हो जाते हैं। अतः आलस्य करने वाले लोग कभी परमात्मा के प्यारे नहीं हो सकते। यों कहना चाहिये कि परमात्मा के देवता आलसियों को नहीं चाहते, क्योंकि आलसी लोग देव के चलाये इस संसार यज्ञ में उन को सहयोग नहीं दे सकते। परमात्मा अपने इन देवों द्वारा जगत् में परि-पूर्ण व्यवस्था रखते हैं—इन द्वारा पूरा नियम, अनुशासन (Discipline) चल रहा है। भूल, ग़लती, अनुचितता, अपराध, पाप का ठीक नियमानुसार हमें दण्ड मिलता रहता है—बेचैनी रोग, व्यथा, वेदना, क्लेश, मृत्यु आदि द्वारा हमें शिक्षा दी जाती रहती है कि हम परमात्मा की आज्ञाओं का उल्लंघन न करें। ये देवता इस अनुशासन को—बिल्कुल अतन्द्र

होकर बिल्कुल भूल-चूक से रहित होकर कर रहे हैं। ये सृष्टि के देव उस सत्वगुण के बने हुए हैं जो कि तमः को जीतकर रजः को अपने वश में किए हुए हैं। अतः आलस्य प्रमाद करने वाले तमोगुणी (तमोगुण से दबे हुए) मनुष्य देवों के प्यारे कैसे हो सकते हैं? अतः उन्हें देव बार-बार प्रमादों के लिये दण्ड दे दे कर उन्हें पुनः पुनः ठोकरें मारते हुए जगाते रहते हैं। परमात्मा के देव जो यह जगत रूपी यज्ञ चला रहे हैं उसी के अनुसार उसकी अनुकूलता में—जो भी कुछ मनुष्य कर्म करता है वह सब यज्ञ-कर्म ही है। मनुष्य को इन यज्ञार्थ-कर्म के सिवाय और कोई कर्म नहीं करना चाहिये। वही कर्म शुभ है, पुण्य है, यज्ञिय है, जिस द्वारा इस संसार के कुछ अच्छे, ऊँचे और पवित्र बनने में सहायता व सहयोग मिलता है। इस तरह का कोई भी कर्म करना इस संसार-यज्ञ के लिये सोम-रस का सेवन करना है। ज़रा देखो—इन देवों के प्यारे लोगों को देखो—जोकि अपने प्रत्येक कर्म द्वारा संसार-यज्ञ के संवर्द्धक, पोषक इस सोम-रस को पैदा करते हुये और अपने इस इस कर्त्तव्य में सदा जागृत, कटिबद्ध, संनद्ध रहते हुए देव तुल्य जीवन बिता रहे हैं।

शब्दार्थ—

(देवाः) देव लोग (सुन्वन्तं) यज्ञ कर्म करते हुए की (इच्छन्ति) इच्छा करते हैं। (न स्वप्नाय स्पृहयन्ति) निद्राशील सुस्तों को नहीं चाहते। (अतन्द्राः) स्वयं आलस्यरहित ये देवलोग (प्रमादं) ग़लती, भूल करने वाले का (यन्ति) नियमन करते हैं।



जीवान्नो अभिधेतन आदित्यासः पुराः हथात् !
कद्ध स्थ हवनश्रुतः ॥

ऋ० ८. ६७. ५ ॥

विनय

हे आदित्य देवो ! दौड़ो। हमें बचाओ। मौत हमारे सामने मुँह खोले खड़ी है। अगले ही क्षण में हम उसके ग्रास होने वाले हैं। भोगों को भोगते हुए तो हमें मालूम न था कि ये आसानी से भोगे जाते हुए भोग एक दिन भोक्ता बन कर हमें खाने के लिए आवेंगे। उस समय हम खुशी से अपने को इन विषयों के बन्धन-जाल में बाँधते गये, यह न अनुभव किया कि हम मृत्यु के जाल में बँध रहे हैं। पर अब इस समय का—यह मृत्यु मुख में जाने का—एक क्षण, पश्चात्ताप-मय यह एक क्षण, शेष सारे बीते हुए जीवन काल के मुकाबिले

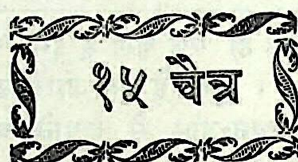
में खड़ा है। बस यह ही एक क्षण है इस बीच, हे आदित्यो! मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ। सुना है तुम जगदीश्वर की अखण्डनीय शक्तियाँ हो, तुम बन्धन-जाल से छुड़ाने वाली शक्तियाँ हो, तुम प्रकाश देने वाली शक्तियाँ हो। तो तुम कहाँ हो? मेरी पुकार क्यों नहीं सुनते? क्षण भर में दम निकलना चाहता है। तुम तो 'पुकार सुनने वाले' (हवनश्रुत्) प्रसिद्ध हो। तुमने बड़े-बड़े पापियों के हार्दिक पश्चात्ताप के करुण-क्रन्दनों को सुना है और उन्हें अन्तिम समय में भी उबारा है। क्या यह मेरा इस समय का पश्चात्तापमय रुदन भी हृदय से निकला रुदन नहीं है? तो फिर तुम क्यों नहीं सुनते, क्यों नहीं दौड़ कर मुझे बचाते? क्या अगले क्षण जब मैं मर चुकूँगा, मेरा विनाश पूर्ण हो चुका होगा, मेरी ही समाप्ति हो चुकी होगी, तब आओगे? तब क्या बनेगा। ओह! यदि मेरा उबारना अभीष्ट है तो ये जो जीवन के दो-चार पल शेष हैं, इन्हीं में आ पहुँचो। दौड़ो, मुझे बचाओ, मुझे बचाओ।

शब्दार्थ—

(आदित्यासः) हे आदित्यो! (अभिधेतन) दौड़ो (जीवान् नः) हम जीते रहतों के पास (हथात् पुरः) हमारे मारे जाने से पहिले ही दौड़ो। (हवनश्रुतः) हे पुकार सुनने वालो! (कद्ध स्थ) तुम कहां हो?

*

* *



तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
तरत् स मन्दी धावति ॥

ऋ० ६. ५८. १ ॥ साम० पू. ६. १. २. ४ ॥

विनय

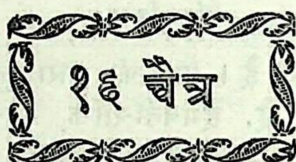
हे दुःख और पाप से तरना चाहने वाले भाइयो ! देखो, कोई हैं, जो कि तर गये हैं। इस दुस्तर दीखने वाले संसार-महासागर से तरा जा सकता है—सचमुच तरा जा सकता है। पर तरता वह है जो कि "मन्दी" है। क्या तुम भगवान् की भक्ति-स्तुति में रमने वाले हो ? क्या इस भजनरस से तुम्हारा अन्तःकरण तृप्त हो गया है तुम्हारा अपना आन्तर (अन्दर) आनन्द से परिपूर्ण हो गया है। अर्थात् तृप्त हो कर तुम्हें संसार की अब अन्य किसी वस्तु की—किसी भी वस्तु की—कामना नहीं रही है ? क्या तुम ऐसे मस्त हो गये हो ? ऐसे आत्माराम हो गये हो ? "मन्दी" होने के लक्षण तो ये ही हैं। देखो, ऐसे "मन्दी" तैरते जा रहे हैं और तर गये हैं।

यह अवस्था कैसे प्राप्त होती है ? जब भजन करने से अन्दर सोई पड़ी हुई शक्ति जागती है तो वह प्राण, वाणी और मन को उज्जीवित करती हुई ऊपर की तरफ़ चढ़ने लगती है। हठ-योगियों की परिभाषा में इसे कुण्डलिनी का जागरण और प्राणोत्थान कहते हैं। इस कुण्डलिनी का वास्तविक जागरण

ही 'तरना' शुरू करना है। प्राण की धारा मूलाधार से उठकर ऊपर चढ़ने लगती है, हैमवती-शक्ति नाचती कूदती हुई, भजन-स्तुति करती हुई—मार्ग में प्राण, वाणी, मन के अद्भुत चमत्कार दिखाती हुई—ऊपर, अपने शिवरूप स्वामी की तरफ़ चढ़ने लगती है। यह आध्यान अर्थात् मानसिक-चेतना से युक्त प्राणधारा के रूप में क्रमशः ऊपर जाती हुई अनुभूत होती है। यही उत्पन्न किये "अन्धस्" (सोम) की धारा है, जिसके साथ-साथ आत्मा उँचा होता जाता है। इसी धारा के साथ 'मन्दी'–नामक भक्त की ऊर्ध्वगति होती है। प्रसिद्ध सात लोक सब अन्दर हैं। उन्नत होता हुआ आत्मा इन सब लोकों को पार करता हुआ सत्यलोक में पहुंच कर पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है—बिल्कुल पार तर जाता है। शिर के सत्यलोक में प्राण, वाणी, मन आदि शक्ति जाकर ठहर जाती है और समाधि हो जाती है। इस प्रकार देखो! "मन्दी" (भगवान् का भक्त) दुःख-सागर को तर जाता है—ऊपर पहुँच जाता है। अहो! इस पुण्य घटना का विचार करना—इसे कल्पना की आँखों से देखना—भी कितना ऊँचा उठाने वाला है! "तरत् स मन्दी धावति", "तरत् स मन्दी धावति।"

शब्दार्थ—

(मन्दी) जो भक्ति, स्तुति करने वाला, स्वयं तृप्त, आनन्दमग्न पुरुष होता है (स) वह (तरत्) तर जाता है (स) वह (सुतस्य) उत्पन्न की गई (अन्धसः) आध्यानयुक्त प्राण व वाणी की (धारया) धारा के साथ (धावति) ऊपर वेग से उठता जाता है। (स मन्दी) वह आनन्द तृप्त (तरत्) तर जाता है, (धावति) ऊर्ध्वगति द्वारा ऊपर चढ़ जाता है।



नयसीद्वति द्विषः कृष्णोष्युक्थशंसिनः ।
नृभिः सुवीर उच्यते ॥

ऋ० ६. ४५. ६॥

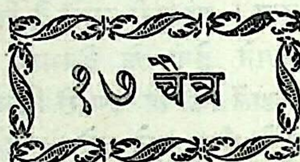
विनय

"सुवीर"—सर्वश्रेष्ठ वीर—किसे कहना चाहिये ? अन्त में तो प्रत्येक ही गुण की पराकाष्ठा भगवान् में है, परिपूर्ण वीरता का निवास भी उन्हीं में है। उनकी वीरता का अनुकरण करने वाले मनुष्य, नर लोग, सच्चे पुरुष उन भगवान् को ही 'सुवीर' नाम से पुकारते हैं। पर उनकी वीरता कैसी है ?

अज्ञानी लोग समझते हैं कि अपने शत्रु, द्वेषी को नुकसान पहुँचाने में सफल हो जाना ही बहादुरी है। यह निरा अज्ञान है। क्रोध के वश में आ जाना तो हार जाना है। क्रोधवश होकर मनुष्य केवल अपने को विषयुक्त करता है और जलाता है। एवं क्रोधी अपने शत्रु का नाश क्या करेगा ? वह तो अपना नाश पहिले कर लेता है। ज्यों ज्यो हम अपने द्वेषी के लिये अनिष्ट-चिन्तन करते हैं, त्यों त्यों उसमें हमारे प्रति द्वेष और बढ़ता जाता है, उसका द्वेष, उसका शत्रुपना बढ़ता जाता है। उसे हानि पहुँचा लेने पर, उस के शरीर को चोट दे लेने पर, यहाँ तक कि उसे मार डालने तक पर भी उसकी शत्रुता नष्ट नहीं होती, वह तो और और बढ़ती जाती है। शत्रु के शरीर का, धन का, मान का एवं उसकी अन्य सब चीज़ों का हम बेशक नाश करने में सफल हो जाँय पर उतना ही उतना वह शत्रु (असली शत्रु) बढ़ता जाता है, उसका

शत्रुपना बढ़ता जाता है। यह क्या हुआ? अतः वीरता (परमात्म देव से अनुकरणीय सच्ची वीरता) इसमें है कि हम उसकी बाहरी किसी चीज़ का नाश न करें (और क्रोध से हम अपना भी नाश न करें) किन्तु किसी तरह उसका—उसकी शत्रुता का—नाश करदें। उसके अन्दर हम ऐसे घुसें कि वह हमारा शत्रु न रहे; वह मित्र हो जाय। बहादुरी इसमें है कि हम क्रोध को जीत कर, धैर्य रखकर अपने द्वेषी के द्वेषभाव को बिल्कुल निकाल डालें, ऐसा निकाल डालें कि वह हमारी निन्दा करना तो दूर रहे वह हमारी प्रशंसा के गीत गाने लगे। यह है शत्रु पर विजय पाना। पर ऐसी विजय पाने के लिये अपने में बड़ा भारी बल चाहिये—अपने में बलिदान की न ख़तम होने वाली शक्ति चाहिये बड़ा धैर्य चाहिये, बड़ी भारी वीरता चाहिये। हम भी परिमित अर्थ में बोला करते हैं कि वीर वह है जिसकी शत्रु भी प्रशंसा करें, पर हमें तो अपरिमित अर्थ में उस भगवान् की सु-वीरता का आदर्श अपने सामने रखना चाहिये जिनके विषय में भक्त लोग समझते हैं कि आज संसार में जो लोग बिल्कुल उल्टे रास्ते जा रहे हैं वे भी एक दिन लौट कर भगवद्भक्त—भगवान् के प्रशंसक—बनेंगे और मुक्त होंगे। भगवान् की उस अपरिमित वीरता में से, हृदय-परिवर्तन करने की उनकी इस अनन्त शक्ति में से और उनके अनन्त धैर्य में से हम भी कुछ ले लेवें, हम भी वीर बनें। शब्दार्थ—

हे इन्द्र तू (द्विषः) द्वेष करने वाले के द्वेषभाव को (इत् उ) निश्चय से (अति नयसि) निकाल डालता है। (तान्) तू उन्हें (उक्थ शंसिनः) अपना प्रशंसक (कृणोषि) बना देता है (नृभिः) सच्चे मनुष्यों से तू (सुवीर उच्यते) सुवीर कहाता है।



१७ चैत्र

रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा ।
मर्य इव स्व ओक्ये ॥

ऋ० १. ९१. १३ ॥

विनय

हे देव ! तुम मेरे हृदय में आ विराजो, इसी में रमण करो। कहने को तो पहले बहुत बार ऐसी प्रार्थना मैंने की है तथा औरों को करते सुना है। पर शायद तब मैं न तो अपने हृदय को जानता था और न तुम्हें जानता था। तुम तो मुझ में तभी विराज सकते हो जब कि मेरा हृदय स्वार्थ से बिल्कुल साफ़ हो—सर्वथा निर्मल हो। इसीलिये अब मैंने अपने जीवन के लिये भगीरथ-यत्न से हृदय को पवित्र किया है। मैंने झूठ, हिंसा, कुटिलता, असंयम आदि विकारों के मैल को ही नहीं निकाला है किन्तु बड़े यत्न से क्षण-क्षण आत्मनिरीक्षण करते हुए राग और द्वेष के सूक्ष्मातिसूक्ष्म मल को भी खुरच खुरच कर निकाला है और अतएव अब इसमें भक्ति-स्रोत भी खुल गया है। इसी लिये मैं अब तुम्हें बुलाने की हिम्मत करता हूं। हे मेरे जीवन-

सार ! मैं कहता हूं कि तुम मेरे हृदय में ऐसे आ जावो जैसे कि गौवें जौ के हरे खेत में प्रसन्नता से आकर खाने का आनन्द लेती हैं क्योंकि मैंने भी न केवल अपने हृदय को तुम्हारे योग्य स्वच्छ बनाया है किन्तु इसमें यह भक्ति का रस भी जुटा रखा है। मेरे इस हार्दिक प्रेम का रसास्वादन करने के लिये तुम यहाँ आओ। मेरा प्रेम देखता है कि अब तुम ही मेरे प्राण हो, तुम्हारा स्पर्श मेरा जीना है और तुम्हारा हट जाना मेरी मौत है। इसलिए मेरा हृदय पुकारता है कि तुम मुझ में आकर सदा रमण करो। क्या मेरा सच्चा ज्ञानमय प्रेम तुम्हें यहाँ नहीं खींच लायगा ? नहीं, मैं भूल करता हूं तुम मेरे हृदय में न केवल आओ किन्तु आकर इस तरह बस जाओ जैसे मनुष्य अपने घर में रहता है व रमण करता है। मेरी भक्ति आर्त्त, जिज्ञासु व अर्थार्थी की भक्ति नहीं है क्यों--कि मैंने अपने हृदय से अब 'अहंकार' को भी सर्वथा निकाल दिया है ! अब यह शरीर तेरा है, यह हृदय अब तेरा अपना घर है। "मैं" 'मम' सब यहाँ से लोप हो गया है। हे आत्मा की आत्मा सोम ! सर्वथा विशुद्ध इस हृदय में अपना यथेच्छ रमण करो। यह तुम्हारा घर होगया।

शब्दार्थ

(गावः न यवसेपु) जैसे जौओं के बीच में गायें आकर रमण करती हैं, आनन्दित होती हैं और (मर्यः स्व ओक्ये इव) जैसे मनुष्य अपने निजी घर में बसता है वैसे ही (त्वं) तू (नः हृदि) हमारे हृदय में (आ) आकर (रारन्धि) सदा रमण करो व बस जाओ।

*

* *



बृबदुक्थं हवामहे, सृप्रकरस्न मूतये ।
साधु कृण्वन्तं अवसे ॥

ऋ० ८ं ३२. १० ॥

विनय

हे परमेश्वर ! हम तुम्हें रक्षा के लिये पुकारते हैं। इस संसार में बहुत से क्लेश, दुःख और आपत्ति हम पर आतो हैं, बहुत से भय उपस्थित होते रहते हैं उस समय में हे परमेश्वर ! हम तुम्हें ही याद करते हैं। तुम्हारे सिवा क्लेश में हम और किसे पुकारें ! क्योंकि हम जानते हैं कि तुम ही एक मात्र रक्षक हो, जब तुम रक्षा करना चाहते हो तो सैंकड़ों विपत्तियों के बादलों को एक क्षण भर में उड़ा देते हो, सैंकड़ों बन्धन एक दम में काट देते हो, जहाँ कोई भी रक्षा का उपाय नहीं नजर आता, अन्तिम नाश ही दीख रहा होता है, बच जाने की हम कोई कल्पना तक नहीं कर सकते होते, वहां पर भो तुम्हारे अदृश्य हाथ पहुँचे हुये हमारी रक्षा कर देते हैं। तुम्हारे रक्षा करने वाले हाथ हर जगह और हर वक्त पहुंचे हुये हैं। इस लिए हे सृप्रकरस्न ! हम कभी भी आशा नहीं छोड़ते कि तुम हमें बचा न लोगे। अतः हम तुम्हें पुकारते जाते हैं। आखिर

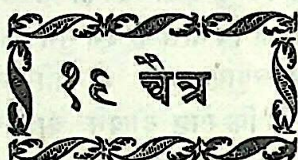
तुम यदि नहीं भी रक्षा करते तो भी हम अशान्त नहीं होते क्योंकि हम जानते हैं कि तुम्हारी अरक्षा में भी रक्षा छिपी होती है। हे देव ! हमें अटल विश्वास है कि तुम कल्याण ही करने वाले हो। तुम से अकल्याण कभी हो ही नहीं सकता है। हम नहीं समझ पाते हैं कि स्पष्ट दीखने वाली अमुक आपत्ति किस तरह कल्याण के रूप में बदल जायगी, कैसे हमारा विनाश भलाई के लाने वाला होगा, पर अनुभव द्वारा अन्तस्तल पर यह विश्वास निहित है कि तुम अपनी हर एक घटना द्वारा हम लोगों का भला ही कर रहे हो और आख़िर तुम हमारी पालना करोगे, हमें बचालोगे। हमारा अत्यन्त विनाश तुम कभी नहीं होने दे सकते। अतः हम तुम्हें ही रक्षा के लिये पुकारते हैं। सदा ऐसे विलक्षण ढंग से सब का कल्याण करते हुये तुम हमारी निश्चित रक्षा करने वाले हो; हमारे कल्याण के लिए अपने रक्षक बाहुओं को प्रत्येक क्षण में और प्रत्येक स्थान में फैलाए बैठे हो; तुम्हारे सिवाय मनुष्य के लिये और कौन स्तुत्य है ? मनुष्य और किसके गीत गावें ? तुम्हारी ही स्तुति कर वह अपनी वाणी को कृतकृत्य कर सकता है।

शब्दार्थ

(बृबदुक्थं) स्तुति करने योग्य इन्द्र को (ऊतये) रक्षा के लिये (हवामहे) हम पुकारते हैं जो इन्द्र (सृप्रकरस्नं) सब जगह फैली हुई भुजाओंवाला है (अवसे) जो पालन पोषण के लिये (साधु कृण्वन्तम्) कल्याण ही करने वाला है उस इन्द्र को।

❀

❀ ❀



चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥

ऋ० १. ३. ११. ॥

विनय

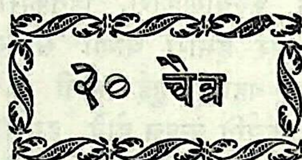
जिन्होंने अपने जीवन को यज्ञ बनाया है वे जानते हैं कि इस जीवन-यज्ञ को जहाँ अन्य (परमेश्वर के शक्तिरूप) देवों ने धारण कर रखा है वहां सरस्वती देवी ने भी इसे धारण किया हुआ है। यह देवी दो कार्य कर रही है। यह एक तो 'सूनृता' वाणी को प्रेरित करती है और दूसरी सुमितियों को जगाती रहती है। सूनृता उस वाणी का नाम है जोकि सच्ची और प्यारी होती है। केवल प्रिय वाणी तो किसी काम की है ही नहीं किन्तु केवल सच्ची वाणी बोलना भी अधूरा है। सत्य के साथ वाणी में अहिंसा भी रहे तभी वाणी पूरी होती है और तब वाणी में प्रेम भी आ जाता है। सरस्वती देवी हम लोगों में ऐसी सत्यमयी और मधुर वाणी को प्रेरित करती रहती है। इस कारण हमारा जीवन-यज्ञ अभग्न चलता है। और इसके अतिरिक्त यह सरस्वती देवी इस यज्ञ के एक ऐसे अन्य गहरे और सूक्ष्म अंग को भी निबाहती है, जबकि यह हममें निरन्तर श्रेष्ठ, सुन्दर, कल्याणकर, बुद्धि (ज्ञान) को जगाती है। जब

जीवन-यज्ञ ठीक चल रहा होता है तो अन्दर सरस्वती देवी हममें शुभ, सबकी कल्याणकारी, हितकारी बुद्धियों को ही उत्पन्न करती हुई और हमारी वाणी से सच्चे और प्रेममय वचनों का ही प्रवाह बहाती हुई होती है। अतः जब कभी हमारे मन में कोई दुर्मति उत्पन्न होवे, हमारा मन किसी के लिये अहित व अनिष्ट सोचे तो समझ लो कि सरस्वती देवी ने हमें छोड़ दिया है। जब कभी हम अनृत या कठोर (हिंसक) वचन बोलें तो समझ लो कि सरस्वती देवी हमारे जीवन की यज्ञशाला से उठ गई है। हमें फिर सुमति और सूनृता वाणी संकल्प करके अपने हृदयासन में सरस्वती देवी को बिठलाना चाहिये, और इस यज्ञ-भंग के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए।

हम प्रायः समझते हैं कि सरस्वती देवी का प्रसाद पढ़ना-लिखना आ जाना है। पर यह नहीं है। यदि किसी के हृदय में निरन्तर सुमति की ही धारा बहती हो और उसकी वाणी से सत्यमय और मधुर बचनों का ही अमृत झरता हो तो वह मनुष्य चाहे बिल्कुल निरक्षर हो तो भी उसमें निश्चय से सरस्वती का वास है, जोकि उसके जीवन-यज्ञ को धारे हुये चला रही है।

शब्दार्थ—

(सूनृतानां) सच्ची और प्यारी वाणी को (चोदयित्री) प्रेरित करती हुई (सुमतीनां) और अच्छी बुद्धियों को (चेतन्ती) चेताती हुई (सरस्वती) सरस्वती (यज्ञं) यज्ञ को (दधे) धारण किये हुये है।



केतुं कृण्वन् अकेतवे पेशं मर्या अपेशसे।
समुषद्भिः अजायथाः ॥

ऋ० १.६.३. । साम०उ०६.३.१४ । अ०२०.६९.११ ॥

विनय

यह शरीर तो मर्य है, मुर्दा है। इस समय भी मुर्दा है। जब अर्थी पर उठाकर इस शरीर को जलाने के लिये ले जाया जाता है उस समय यह शरीर जैसा मुर्दा होता है वैसा ही यह अब भी है। पर इस समय यह मुर्दा इसलिये नहीं दीखता चूँकि इन्द्र (आत्मा) ने अपनी चेतनता, अपनी सुन्दरता इसमें बसा रखी है।

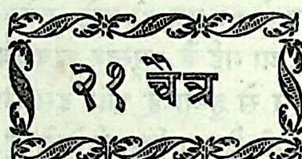
हे इन्द्र आत्मन्! जब यह शरीर सुषुप्तावस्था में होता है तब तुम ही इसमें से अपनी जागरण शक्तियां को समेट लेते हो, अपने में खींच लेते हो। अतः तुरन्त हमारा चलना फिरना, बोलना आदि सब व्यापार बन्द हो जाता है। सदा चलनेवाले मन के भी सब संकल्प, विकल्प वन्द हो जाते हैं। यह शरीर जड़वत हो जाता है। और जब तुम फिर अपनी जागरण-रश्मियों को शरीर में फैला देते हो तो फिर मनुष्य उठ बैठता है, सोचना विचारना शुरू हो जाता है; मनुष्य फिर चलने बोलने लगता है। इस "अकेतु" शरीर में फिर चेतना दीखने लगती है—उसका का खोया हुआ जागृत रूप फिर

उसमें आ जाता है। हे इन्द्र! सुषुप्ति में तो तुम अपनी जागरण शक्तियों को केवल समेट लेते हो, पर जब तुम इस शरीर को छोड़ ही देते हो तब क्या होता है? तब यह शरीर अपने असली रूप में—मिट्टी के ढेर के रूप में—दीख जाता है। न इसमें ज्ञान है और न रूप है। हे इन्द्र! इस मिट्टी के वर्त्तन में अमृत होकर तुम ही भरे हुये हो। इसी मिट्टी में जो रूप, सुडौलता आ गई है, सुन्दर अवयव-संनिवेश हो गया है यह तुम्हारे व्यापने से हुआ है और इस मिट्टी की मूर्ति में शव की अपेक्षा जो इतनी चेतना दिखाई देती है, वह तुम्हारे सामने से ही हुई है। यह शरीर जो मुर्दा होने पर इतना अपवित्र समझा जाता है कि इसे छू लेने से स्नानादि शौच करना पड़ता है वही असल में मुर्दा शरीर, हे परम-पावन इन्द्र! इस समय तुम्हारे समाये रहने के कारण, तुम्हारे पवित्र संस्पर्श से इतना पवित्र बना हुआ है। तुम्हारा इतना अद्भुत माहात्म्य है। मनुष्य तुम्हारे इस माहात्म्य को क्यों नहीं देखता?

आज हम स्पष्ट देख रहे हैं कि इन सब मुर्दा जड़ शरीरों में चेतनता लाते हुये और इन अरूपों में रूप सौन्दर्य प्रदान करते हुये तुम ही अपनी जागृति शक्तियों के साथ उदय हुये हुये हो; तुम ही आये हुये हो।

शब्दार्थ—

हे इन्द्र आत्मा! तू (मर्याः) इस मरण-शील (अकेतवे) और ज्ञान-रहित अवस्थावाले शरीर में (केतुं कृण्वन्) ज्ञान और जीवन लाता हुआ (अपेशसे) तथा इस अरूप असुन्दर शरीर में (पेशां कृण्वन्) रूप सौन्दर्य लाता हुआ (उषद्भिः) अपनी जागरण शक्तियों के साथ (सं अजायथाः) उदय होता है—पुनर्जागरण और पुनर्जन्म में— उदय होता है।



त्वं नः सोम विश्वतो रत्ता राजन् अघायतः ।
न रिष्येत् त्वावतः सखा ॥

ऋ० १.९१. ८ ॥

विनय

हे सोमदेव ! तुम्हीं वास्तव में हमारे राजा हो। यद्यपि संसार के मनुष्य-राजा भी जान माल आदि की रत्ता करने के लिए ही होते हैं, पर वे अल्पशक्ति राजा चाहे जितनी हकूमत की शक्ति रखते हों तो भी हमारी पूरी तरह रत्ता नहीं कर सकते हैं। पर मुझे अपने जान माल की ऐसी परवाह नहीं है, इनको तो मैं धर्म के लिए खुशी से जाने दूँगा। अतः हत्यारे और लुटेरों के आक्रमण से रत्ता पाने की मुझे कोई चिन्ता नहीं होती। मुझे तो चिन्ता है पाप के आक्रमण से रत्ता पाने की। इस पाप के आक्रमण से ही बचने की मुझे सख्त ज़रूरत है। और इस आक्रमण से तो, हे मेरे अन्तरतम के राजा! मुझमें अन्दर से हकूमत करने वाले स्वामी!

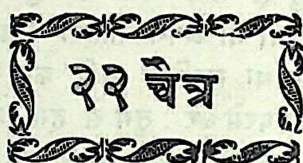
हे असली राजा ! तुम्हीं चारों तरफ से मुझे बचा सकते हो। बड़े से बड़ा श्रेष्ठ राजा भी अपने बाहिरी सुप्रबन्ध से हमें पाप के आक्रमण से सर्वथा सुरक्षित नहीं कर सकता। इसी लिए हे राजाओं के राजा परमेश्वर ! तुम से हम प्रार्थना करते हैं कि तुम हमें पाप चाहने वालों से सब तरफ से रक्षित करो। हे सर्वशक्तिमान् ! मैं तो अन्दर तुम से सम्बन्ध जोड़ चुका हूं; तो मुझे अब किसका डर है ? तुझ जैसे से अपना सम्बन्ध जोड़ने वाला—तुझ सर्वशक्तिमान् राजा की मैत्री पाया हुआ तेरा सखा—कभी नष्ट नहीं हो सकता। तेरी सर्वशक्तिमान् शरण में पहुँचे हुये को नाश कर सकने वाली वस्तु कहां से आवेगी ? पर ऐसा तेरा सखित्व पाने के लिये—और ऐसा अमूल्य सखित्व पाकर उसको कायम रखने लिए—बस, पाप से सुरक्षित रहने की ज़रूरत है। इसलिये हमारी बारम्बार यही प्रार्थना है कि हमें पाप से चारों तरफ से बचाइये—हमें पाप से सब तरफ से बचाइये।

शब्दार्थ--

(सोम) हे सोम ! (राजन्) हे राजा ! हे असली राजा ! (त्वं नः) तू हमें (अघायतः) पाप चाहने वालों से (विश्वतः) चारों तरफ से (रक्षा) रक्षा कर। (त्वावतः सखा) तेरे जैसे से मित्रता रखने वाला (न रिष्येत्) कभी नष्ट नहीं होता।

*

* *



प्रियं नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः ।
प्रियाः स्वग्नयो वयम् ॥

ऋ० १. २६. ७ । सा० उ० ८. १. १॥

विनय

हे मनुष्य भाइयो ! हम अपने परम आत्मा को, परम अग्नि को भूल गये हैं। हम यह भी भूल गये हैं कि हम स्वयं भी वास्तव में आत्मा रूप हैं, आत्माग्नि हैं। इसीलिये हम इस संसार की परम तुच्छ धन, दौलत, माल, असबाब, पुत्र, वधू, सुख, आराम, शरीर तथा सौन्दर्य आदि विनश्वर वस्तुओं से तो इतना प्रेम करने लग गये हैं, इनमें इतने आसक्त, लिप्त और अनुरक्त हो गये हैं कि हमें इस गन्दी दलदल में से अब ऊपर उठना असम्भव सा हो गया है। पर जो हमारा असली स्वामी सखा और सब कुछ है, परम पवित्र प्रभु है, उसे हम दिनरात के चौबीसों घण्टों से कुछ क्षणों के लिये भी स्मरण नहीं करते। अब तो हम होश सँभालें, जागें और अपने परम प्यारे अग्नि प्रभु को अपना लें। वही हम सब प्रजाओं का एकमात्र पति है, स्वामी है, वही हमें सब सुखों का देने वाला 'मन्द्र' है, वही एकमात्र है जो कि हम सब का वरणीय है और वही है जो कि अपने परम यज्ञ द्वारा हम प्रजाओं को सब कुछ दे रहा है। अरे प्यारो ! हम उसे छोड़ कर कहाँ प्रेम करने लगे ? सचमुच हमने

अपनी प्रेमशक्ति का अभी तक घोर दुरुपयोग किया है। क्या प्रेम जैसी पवित्र वस्तु हमें इन अशुचि, तुच्छ, अनित्य वस्तुओं में रखने के लिये ही दी गई थी। आओ, अब तो हम अपने प्रेम के लक्ष्य को पा लेवें और उस मन्द्र 'विश्पति' को वरेण्य 'होता' को अपना प्यारा बना लेवें, अपना प्रेम समर्पण कर देवें।

किन्तु इस तरह प्रेमपथ पर चल देने पर हे भाइयो! हमें भी उसे रिझाना होगा, उसे प्रसन्न करना होगा उसके प्रेम को अपने प्रति आकर्षण करना होगा, अर्थात् हमें भी उसका प्यारा बनना होगा और उसके प्यारे तो हम तभी बन सकते हैं जब कि हम "स्वग्नि" बन जाँय, उत्तम प्रकार की आत्मायें बन जाँय। अतः आओ, हम सब मनुष्य अपने उस परम प्यारे के लिये अपनी आत्माओं को शुद्ध करें। उस बृहत् अग्नि के लिये अपनी अग्नियों को उत्तम प्रकार की बना लेंवे। अब हमारी आत्माग्नि से विश्वप्रेम की सुन्दर किरणें ही प्रसारित होवें, हमारी बुद्धि-अग्नि में से सत्य की ज्योति ही निकले, हमारी मानसिक अग्नि सर्व कल्याण के उत्तम विचारों में ही प्रकाशित हुआ करे, और हमारी चित्ताग्नि से पवित्र इच्छायें व भावनायें ही उठे इस प्रकार हम उत्तम अग्नि वाले हो जांय। क्योंकि इसी प्रकार वह हमारा प्यारा हमसे प्रसन्न होगा। इसी प्रकार हमने अपने प्यारे को रिझाना है।

शब्दार्थ—

वह (विश्पतिः) हम प्रजाओं का स्वामी (मन्द्रः) आनन्द देने वाला (वरेण्यः) और वरणीय (होता) दाता अग्नि (नः) हमें (प्रियं अस्तु) प्यारा हो जाय तथा (वयं) हम भी (स्वग्नयः) उत्तम अग्नियों वाले होकर (प्रियाः) उसके प्यारे हो जाँय।



गूहता गुह्यं तमो, वि यात विश्वमत्रिणम् ।
ज्योतिष्कर्त्ता यदुश्मसि ॥

ऋ० १. ८६. १० ॥

विनय

हे मरुत देवो ! हे प्राणो ! हम अन्धेरी गुफा में पड़े हुवे हैं। चारों तरफ़ अँधेरा ही अँधेरा है। इस अँधेरे में खा जाने वाले राक्षस हमें सता रहे हैं, हमें खाये जा रहे हैं; इन्हें भगाओ। इन सब "अत्रियों" को हमसे दूर कर दो। हमें जो कुछ चाहिए वह प्रकाश है। हमें प्रकाश दो, इस गुफा में चारों तरफ़ प्रकाश फैला दो।

मैं पंचकोशों की अँधेरी गुहा में रह रहा हूं—शरीर प्राण मन आदि के पांच शरीरों में बन्द पड़ा हुआ है—अपने आपको भूल इन शरीरों को आत्मा समझ रहा हूं। इसीलिये काम, क्रोध, लोभ आदि राक्षस मुझे खाये जा रहे हैं। ये काम, क्रोध आदि अज्ञान में ही रह सकते हैं। आत्मान्धकार में ही ये फलते फूलते हैं। इस लिये हे प्राणो ! तुम मेरे गुहा के अन्धकार को विलीन कर दो, अन्धकार के हटने पर ये 'अत्रि' अपने आप ही यहां से भाग जायँगे। जब हममें आत्म-ज्योति फैल जायगी; सब भूतों, सब प्राणियों में, फिर आत्मा दिखाई देने लगेगा तो हम

किस के प्रति क्रोध करेंगे? जब हमारा प्रेम सर्वव्यापक हो जायगा तो हम किस एक में कामासक्त होंगे? लोभ किस लिये करेंगे? ओह, आत्म-ज्योति का प्रकाश हो जाने पर ये चुद्र "अत्रि" कहाँ ठहर सकते हैं। आत्म-ज्योति वह ज्योति है जिस से कि सहस्रों सूर्य, चन्द्र और विद्युतें प्रकाशित हो रही हैं, जिस परमोज्वल-ज्योति के सामने हज़ारों सूर्य की इकट्ठी ज्योति भी फीकी है—वह प्रकाश हमें दो। हम उस प्रकाश के पाने के लिए तड़फ रहे हैं। उस प्रकाश के पा जाने पर तो सब कुछ हो जायगा, हृदय का अन्धकार मिट जायगा और इन खा जाने वालों से हमारी रक्षा हो जायगी।[१] इस सत्य में हमें विश्वास है। इसलिये हे प्राणो! हम तुमसे विनय कर रहे हैं। तुम हम में समा कर हमारे प्रकाश खोल दो।

शब्दार्थ—

(मरुतः) हे प्राणो! (गुह्यं तमः) गुहा के अंधेरे को (गूहत) विलीन कर दो (विश्वं अत्रिणम्) सब खा जाने वालों को (वि यात) भगा दो। (यत् उश्मसि) जिसे हम चाह रहे हैं उस (ज्योतिः) ज्योति को (कर्ता) हमारे लिये कर दो।

*

* *

१—योग दर्शन में प्राणायाम का फल बतलाते हुये कहा है "ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" अर्थात् प्राणायाम सिद्ध होने पर प्रकाश का आवरण हट जाता है—अनन्त प्रकाश खुल जाता है।



निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यस्वा ।
साम्राज्याय सुक्रतुः ॥

ऋ० १. २५. १० ॥

विनय

वरुण सम्राट् हम प्रजाओं के अन्दर आकर बैठा हुआ है। यह कितनी विचित्र बात लगती है; पर यह उतनी ही सची है। असली साम्राज्य अन्दर ही है। बाहिर भी सच्चा सम्राट् वही हो सकता है जिसने पहिले अपनी प्रजाओं के हृदयों में सिंहासन प्राप्त कर लिया है। प्रजाओं के हृदयों में बिना घुसे कोई सच्चा सम्राट् नहीं बन सकता है। ठीक ठीक सच्चा शासन अन्दर घुसकर ही किया जा सकता है। इसीलिए इस सब ब्रह्माण्ड के एक मात्र अखण्ड सम्राट् जो वरुण देव हैं, वे हम प्रजाओं के अन्दर आकर बैठे हुये हैं। उस असली सम्राट् के दर्शन के लिये यदि हम निकलें तो हमें बाहिरी सम्राटों के पास पहुँचने की तरह उनके पास पहुंचने के लिये कहीं बाहिर नहीं फिरना होगा। वे तो स्वयं हमारे अन्दर आकर बैठे हुये हैं और इस लिये आकर बैठे हैं कि हमें साम्राज्य दे दें—'साम्राज्याय'। पर हम ऐसे मूर्ख हैं कि हमें कुछ खबर ही नहीं है। हम छोटी छोटी बातों पर हकूमत पाने के लिए—राज्य पाने के लिए बाहिर घूमते फिरते हैं, लड़ते झगड़ते, सत्यादि नियमों का

भंग करते, मारकाट करते फिरते हैं। पर यह नहीं जानते कि सर्वश्रेष्ठ (वरुण) राजा तो स्वयं हमें सारे संसार का बादशाह बनाने के लिये, विश्व का साम्राज्य देने के लिये अन्दर आकर बैठा हुआ है और प्रतीक्षा कर रहा है। हम उधर देखते ही नहीं।

पर जो उधर देखते हैं वे देखते हैं कि वे वरुण प्रभु "धृतव्रत" और "सुक्रतु" हैं—वे व्रतों को धारे हुये हैं, उनके व्रत अटल हैं, उनके नियम कभी टूट नहीं सकते और वे शोभन कर्म ही करने वाले हैं, उनसे कभी बुरा कर्म हो ही नहीं सकता है। हम भी यदि सत्य नियमों का कभी भंग न करने वाले और सदा शोभन कर्म करने वाले हो जायँगे तो उसी क्षण हमें वह सच्चा-साम्राज्य मिल जायगा। वे महात्मा उस साम्राज्य कोभोग रहे हैं जिनके लिये सत्य व्रतों का उल्लंघन और बुरा काम होना असम्भव हो गया है। वह वो साम्राज्य है जिस के प्रथम दर्शन होने पर सब कालों और सब देशों के इस महापद को प्राप्त महापुरुष चिल्ला उठते रहे हैं—"मैंने जो पाना था वह पा लिया,[१] "मैं बादशाह हो गया," "मैं तो अमृत हूं।[२]"

सन्तों द्वारा प्राप्त किये गये इस महा साम्राज्य को "धृतव्रत" और "सुक्रतु" बनकर हम भी पा लेवें इसीलिए वे वरुण हमारे अन्दर बैठे हुये हैं और प्रतीक्षा कर रहे हैं।

शब्दार्थ—

(वरुणः) वरुण (धृतव्रत) अटल व्रतों के धारण कर्त्ता और (सुक्रतुः) सदा शोभन कर्म ही करने वाले होकर (साम्राज्याय) साम्राज्य के लिये (पस्त्यासु आ) प्रजाओं के अन्दर आकर (निषाद) बैठा हुआ है।

---

१ योगदर्शन १-१६ व्यास-भाष्य। २ तै० उपनिषद् शिक्षाध्याय १०-१



महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति ॥

ऋ० १.३.१२ ॥

विनय

ज्ञान की सच्ची जिज्ञासा होते ही यह अनुभव होने लगता है कि अरे, संसार में तो बड़ा ज्ञातव्य है; एक से एक अद्भुत विद्या है; जिस विषय में देखो उसी विषय में ज्ञान पाने का इतना क्षेत्र है कि मनुष्य कई जन्मों में भी उसका पार नहीं पा सकता। तब दीखता है कि मनुष्य के सामने न जाने हुये ज्ञान का एक अनन्त समुद्र भरा पड़ा है। यह देखने वाले मनुष्य नम्र हो जाते हैं, उन्हें ज्ञान का अभिमान नहीं रहता। ऐसे ही मनुष्य सरस्वती देवी की शरण में जाते हैं। सरस्वती देवी के झण्डे के नीचे आने वालों को सबसे पहिले तो यही पता लगा करता है कि ज्ञेय अनन्त है, हमारे ज्ञातव्य संसार का पार नहीं है और हम तुच्छ लोग तो अपनी क्षुद्र इन्द्रियों और बुद्धि को लिये हुये इसके एक किनारे खड़े हैं। विद्या देवी पहिले तो इस बड़े भारी समुद्र को ही हमारे लिए प्रकाशित करती है, इसके पार तो पीछे पहुंचाती है। पहले हमें यह अनुभव होना चाहिये कि ज्ञेय अनन्त है। ज्ञान की अनन्तता तो हमें पीछे दीखेगी। सरस्वती देवी जिधर जिधर अपने "केतु" को—अपने झण्डे को—ले जाती है अर्थात् जिधर

जिधर अपनी प्रज्ञापक शक्ति को फिराती है, वहाँ-वहाँ पता लगता जाता है कि अरे, यह भी एक बड़ा उत्तम ज्ञेय-क्षेत्र है, यह भी एक बड़ा भारी ज्ञेय-क्षेत्र है। एव हरेक क्षेत्र को हमारे लिये जगाती जाती है और फिर सब बुद्धियों को विशेष रूप से दीपित भी करती जाती है—अर्थात् जिस जिस वस्तु की गहराई में हम जाकर जानना चाहते हैं, उस उस वस्तु के तत्व को, उसके सच्चे स्वरूप को भी हमारे लिये चमका देती है। तब हम जिस विषयक बुद्धि पाना चाहें उसी विषय के ज्ञान को यह देवी हमारे लिये प्रदीप्त कर देती है। तभी अनुभव होता है कि सभी बुद्धियों में वही देवी प्रदीप्त हो रही है, वही चमक रही है, सर्वत्र उसी का राज्य है। सरस्वती देवी के सच्चे स्वरूप का या ज्ञान के आनन्त्य का (जिसके कि सामने ज्ञेय कुछ भी नहीं होता)१ अनुभव उसी अवस्था में पहुँचने पर होता है।

अतः वे मनुष्य जिन्हें अभी तक यह भी प्रकट नहीं हुआ है कि हमें ज्ञान का एक बड़ा भारी समुद्र पार करना है, वे समझ लें कि उन पर सरस्वती देवी की कुछ भी कृपा नहीं हुई है और उनके लिये वह दिन तो बहुत दूर है जब कि सरस्वती देवी उनके लिए सब बुद्धियों को दीपित कर देगी।

शब्दार्थ—

(सरस्वती) ज्ञान देवी (केतुना) ज्ञान द्वारा, प्रज्ञापक शक्ति द्वारा (महः अर्णः) बड़े भारी ज्ञान-समुद्र को (प्रचेतयति) प्रकाशित करती है और (विश्वा धियः) सब प्रकाशित बुद्धियों को (विराजति) विशेषतया दीपित करती है।

१—तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्यात् ज्ञेयमल्पम्।
योग० सू० ४—३१॥



अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति !
कृतानि या च कर्त्वा ॥

ऋ० १. २५. ११ ॥

विनय

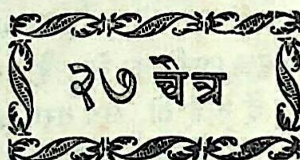
इस संसार में हम बहुधा आश्चर्य चकित कर देने वाली घटनाएँ होते देखा करते हैं। इनका करने वाला कौन है ? वैसे तो प्रतिदिन होने वाली बातों को भी यदि हम ध्यान से देखें तो हम को उनमें बड़ी अद्भुतता दीखेगी। ये अन्धकार और प्रकाश कितनी अद्भुत वस्तु हैं जिनका परिवर्तन हम रोज़ सायं प्रातः देखते हैं। नन्हें से बीज से बड़ा भारी वृक्ष बन जाना; अभी चलते, फिरते, हँसते, खेलते, दीखते मनुष्य का एक दम ऐसा सो जाना कि फिर वह कभी न जग सकेगा; जीव से जीव पैदा हो जाना; ये सब भी वास्तव में कितनी अद्भुत बातें हैं। परन्तु जब पृथ्वी आग बरसाने लगती है और ज्वालामुखी फटने से सैकड़ों शहर बरबाद हो जाते हैं; भूकंप आते हैं; बड़े-बड़े साम्राज्य देखते देखते मिट जाते हैं; थोड़े ही दिनों में एक मनुष्य सितारे की तरह ऊँचा, यशस्वी हो जाता है या राजा रंक हो जाता है, तो इनमें अद्भुतता सभी अनुभव करते हैं। विज्ञान के आजकल के अद्भुत चमत्कारों को देखो ; सिद्ध साधु-

सन्तों द्वारा हुई चकित कर देने वाली बातों को देखो ! ये सब संसार के एक से एक बढ़ कर के अद्भुत हैं। इन सब अद्भुतों का करने वाला कौन है ? हम लोग समझते हैं कि इनके करने वाले मनुष्य हैं, मनुष्य की वैज्ञानिक शक्ति या संघशक्ति है; या कुछ भी नहीं है, केवल प्रकृति का खेल है। पर जो "चिकित्वान्" (जानने वाले) हैं उन्हें तो सब तरफ़ इन अद्भुतों का करने वाला वही इन्द्र (परमेश्वर) दीखता है। उसी से सब संसार के आश्चर्य निकलते दीखते हैं। इन सब विविध आश्चर्यों को देखते हुए उनकी दृष्टि सदा उस एक इन्द्र पर ही रहती है। उनके लिए फिर ये आश्चर्य कुछ आश्चर्य नहीं रहते। प्रभु तो "गूंगे को वाचाल करने वाले और लँगड़े को भी पहाड़ लँघाने वाले" हैं ही। संसार में जो अद्भुत बातें हो चुकी हैं वे सब प्रभु की ही की हुई थीं, कल जो अद्भुत घटना होने वाली है, कोई तख़्ता पलटने वाला है, वह भी उसी प्रभु की सहज लीला से ही होने वाला है। प्रभु की अपार लीला देखने वाले ज्ञानी इसमें कुछ आश्चर्य नहीं करते, वे अद्भुत से अद्भुत घटना में भी कार्य-कारण भाव को देखते हैं।

अतः हे मनुष्य ! संसार के इन आश्चर्यों को देखकर चकित होना छोड़ दो किन्तु इनको देखकर इनके कर्त्ता को पहिचानो। उस नट को पहिचानो जो कि ससार को यह अद्भुत नाच नचा रहा है।

शब्दार्थ—

(चिकित्वान्) ज्ञानी पुरुष (कृत्वानि या च कर्त्त्वा) जो की जा चुकी हैं और जो की जायँगी (विश्वानि अद्भुतानि) उन सब अद्भुत बातों को (अतः) इस परमेश्वर से हुई (अभिविपश्यति) सब तरफ़ देखता है।



त्वं च सोम नो वशो जीवातुं, न मरामहे ।
प्रियस्तोत्रो वनस्पतिः ॥

ऋ० १. ९१. ६ ॥

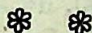
विनय

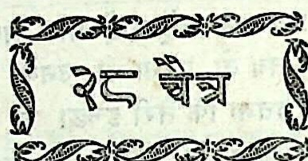
हे हृदयेश ! हे देव ! हे सोम ! जब तुम्हारी इच्छा हमें जीवित रखने की है तब हमें कोई मार नहीं सकता । यह अन्धा, अज्ञानी संसार बहुत वार तेरे भक्तों से द्वेष करने लगता है । और उन्हें सताता है और उन्हें मारना तक चाहता है । भक्त प्रह्लाद को मारने की कितनी चेष्टाएँ की गईं; भक्त मीरा की जान लेने के लिए राजा ने कई बार यत्न किया; भक्त दयानन्द को लोगों ने कई वार ज़हर दिया । पर तेरी इच्छा बिना कौन मर सकता है ? भक्त लोग इस तत्व को जानते होते हैं अतः वे आनन्दित रहते हैं । मरने से डरने वाला यह संसार—तेरे ईश्वरत्व को न जानने वाला यह संसार—यों ही भय-त्रास और मरणाशंका से मरा जाता है । पर भक्त देखते हैं कि जब तक

तेरी इच्छा नहीं है तब तक उन्हें कोई मार नहीं सकता और जब तेरी इच्छा होगी तब तो मरना भी उनके लिये उतना ही आनन्ददायक होगा जितना कि तेरी इच्छा से जीना आनन्द-दायक है। ओह, इस ज्ञान के कारण वे भक्त जीवित ही अमर हो जाते हैं, अभिनिवेश के क्लेश से पार हो जाते हैं। वे संसार की किसी भयंकर से भयंकर वस्तु से भी न डरते हुए, तेरे स्तोत्र गाते हुए निर्भय फिरते हैं। प्यारे स्तोत्रों से तुझे रिझाना या तेरे स्तुतिगान से जगत में भक्ति का प्रसार करना, यही उनका कार्य होता है। अपनी रक्षा व अरक्षा की चिन्ता वे तुझपर छोड़ बेफ़िक्र हो जाते हैं। तू तो संभजन करने वालों की रक्षा करने वाला मौजूद ही है। तो उन्हें क्या चिन्ता? अहा, कैसी बेफ़िक्री और निरापदता की अवस्था है! कैसी अमृत्युता (अमरता) का आनन्द है!

शब्दार्थ—

(सोम) हे सोम! (त्वं च) तुम यदि (नः) हमारे (जीवातुं) जीवित रहने की (वशः) इच्छा करते हो (न मरामहे) तो हम मर नहीं सकते। (प्रियस्तोत्रः) तुम प्रियस्तोत्रवाले हो और (वनस्पतिः) संभजन करने वालों के रक्षक हो।



आ हि ष्मा सूनवे पिताऽऽपिर्यजत्यापये ।
सखा सख्ये वरेण्यः ॥

ऋ० १. २६. ३ ॥

विनय

संसार में पिता पुत्र-वात्सल्य से प्रेरित होकर पुत्र के लिये क्या नहीं करता ? बन्धु, बन्धु के लिये जी जान से पूरी सहायता करता है, श्रेष्ठ मित्र अपने मित्र के लिये सब कुछ अर्पण करने को उद्यत रहता है। पर हे प्रभो ! तुम तो मेरे सब कुछ हो। तुम्हारे होते हुए मुझे किसी चीज़ की क्यों कमी रहनी चाहिये। तुमसे मेरा जो सम्बन्ध है वह घनिष्ठ, अटूट सम्बन्ध है—उसे मैं किस नाम से पुकारूँ ? उस परिपूर्ण सम्बन्ध का वर्णन नहीं हो सकता। मैं संसार की भाषा में तुझे कभी पिता, कभी बन्धु, कभी सखा, पुकारता हूँ। पर हे प्यारे ! हे मेरी आत्मा ! इन शब्दों से मेरा तेरा वह सम्बन्ध व्यक्त नहीं हो सकता। जब मैं देखता हूँ कि तुम मेरे पैदा करने वाले और लगातार पालनेवाले हो, तब मैं अपनी भक्ति और प्रेम को प्रकट करने के लिये तुम्हें 'पिता पिता' पुकारने लगता हूँ और तुमसे पुत्र-वात्सल्य पाने के लिए रोने लगता हूँ। जब मुझे

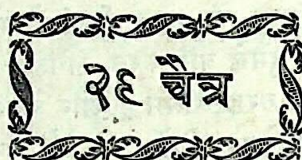
तुम्हारे घनिष्ट सम्बन्ध की याद आती है, उस अटूट सम्बन्ध की जो कि मेरा संसार में और किसी से भी नहीं है, तब मैं बन्धु-भाव में होकर तुमसे बातें करने लगता हूँ। जब देखता हूँ कि मैं भी तुम्हारी तरह आत्मा हूं और चेतन हूँ तुम भले ही मुझ से बहुत बड़े 'वरेण्य' होवो, तो मैं सखा बनकर तुम्हें 'वरेण्य सखा' नाम से सम्बोधन करता हूं! हे प्रभो! तुम मुझे पुत्र मानों, बन्धु या सखा मानो, कुछ मानो, हर तरह मैं तेरा हूँ और तुम मेरे हो। हे मेरे! तो मुझ अपने को तुम कैसे छोड़ सकते हो? मैं अपूर्ण अशक्त बालक तेरा हूँ, इसलिये मेरी सहायता किए बिना तुम कैसे रह सकते हो? तुम परिपूर्ण हो, तुम्हें सदा मुझे देते रहने के सिवा और कार्य ही क्या है? यही मेरे लिये तुम्हारा यजन है— तुम मुझे देते रहो और मैं लेता रहूँ यही तुम्हारी तरफ से मेरा यजन है। तुम से मेरा सम्बन्ध इसी रूप में कायम है। बड़ा छोटे को दिया ही करता है, इसलिये मैं क्या मागूं? मेरी जरूरत को समझना और पूरी तरह पूर्ण करना तुम स्वयं करोगे, हे मेरे! तुम स्वयं ही करोगे। बस, मैं तेरा हूं, मैं तेरा हूँ, और क्या कहूं; हे मेरे सर्वस्व! हे मेरे सब कुछ! मैं तेरा हूँ।

शब्दार्थ—

(पिता सूनवे) पिता पुत्र के लिये (हि स्म आयजति) सर्वथा सहायता प्रदान करता है; कमी पूरी करता है (आपिः आपये) बन्धु बन्धु के लिये (वरेण्यः सखा सख्ये) श्रेष्ठ मित्र मित्र के लिये सर्वथा सहायता करता है।

*

* *



यच्चिद्धि शश्वता तना देवं यजामहे ।
त्वे इत् हूयते हविः ।

ऋ० १.२६. ६ ॥ साम० उ. ७.३. १ ॥

विनय

हे देवाधिदेव, एक देव ! इस जगत् में दो प्रकार के नियम काम कर रहे हैं। एक शश्वत् सनातन नियम हैं जोकि सब काल और सब देशों में सत्य हैं, सदा लागू हो रहे हैं। दूसरे वे नियम हैं जोकि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में ही सत्य हैं, जोकि स्थानिक हैं, स्वल्पकालिक होते हैं। शश्वत् नियमों के अनुसार चलने से ही हे प्रभो ! तुम्हारा पूजन होता है और अशश्वत् अविस्तृत नियमों के अनुसार चलने से केवल उस उस देव को तृप्ति होता है, उस उस देव का यजन होता है। पर हे प्रभो ! इस परिमित अशाश्वत संसार में रहने वाले हम परिमित अशाश्वत शरीरधारी प्राणी तुम्हारा यजन भी सीधा कैसे कर सकते हैं ? हम तुम्हारा यजन इन देवों द्वारा ही कर पाते हैं। फिर तुम्हारे यजन में और इन देवों के यजन में भेद यह है कि हम जो यज्ञ विस्तृत और सनातन दृष्टि से (भावना से) करते हैं वह तो इन देवों द्वारा तुम्हें पहुँच जाता है और जो यज्ञ परिमित भावना से करते हैं वह इन देवों तक ही पहुँचता

है। यदि हम अग्नि होत्र अपनी वायुशुद्धि के लिये करते हैं तो यह अग्नि व वायुदेवता का यजन है, पर यदि हम यही अग्नि-होत्र संसार-चक्र का चलाने में अङ्गभूत बनकर करते हैं तो इस अग्नि होत्र से तुम्हारा यजन होता है। यदि हम विद्या का संग्रह अपने सुख के लिये करते हैं तो यह सरस्वती देवी का यजन है पर यदि यह हमारा ज्ञान तुम्हारी ही प्राप्ति के प्रयोजन से है तो यह सरस्वती देवी द्वारा तुम्हारा पूजन है। इसी तरह अपनी मातृभूमि देवी का पूजन भी केवल स्वदेशोद्धार के लिये या जगत् हित के लिये दोनों तरह का हो सकता है। यहाँ तक कि यदि हमारे अपने देह की रक्षा, हमारा नित्य का भोजन खाना भी सचमुच तुम्हारे ही लिये है तो यह दीखने वाली देह-पूजा भी असल में तुम्हारा ही यजन है। इसलिए सब बात भाव की है, हवि के प्रकार की है। हम सनातन और विस्तृत भावना से जिस भी किसी देव का यजन करते हैं, उन सब देवों के नाम से दी हुई हमारी हवि तुम्हें ही जा पहुँचती है। जब हमारा लक्ष्य तुम्हारी तरफ़ हो जाता है अतएव जब हमारा एक एक कार्य शश्वत् दृष्टि से सनातन नियमों के अनुसार होता है तब हमारे कर्म से जिस किसी भी देव की पूजा होती दीखती है, वह सब पूजा असल में तुम्हारे ही चरणों में पहुँच जाती है।

शब्दार्थ—

(शश्वता तना) सनातन और विस्तृत हवि से (यत् चित् हि देवं देवं) यद्यपि हम भिन्न भिन्न देवों का (यजामहे) यजन करते हैं (हविः) पर वह हवि (त्वे इत्) तुझ में ही (हूयते) हुत होती है तुझे ही पहुँचती है।



यमग्ने पृत्सु मर्त्यं, अथा वाजेषु यं जुनाः ।
स यन्ता शश्वतीरिषः ॥

ऋ० १. २७. ७ ॥

विनय

इस संसार में मनुष्य को प्रत्येक अभीष्ट फल पाने के लिए लड़ाइयाँ लड़नी पड़ती हैं। संसार में नाना प्रकार के संघर्ष चल रहे हैं। हे प्रभो! जिस मनुष्य की तुम इन संग्रामों में रक्षा करते हो अर्थात् जिस तुम्हारे अनन्य भक्त को सदा तुम्हारी सहायता मिलती रहती है, उस मनुष्य को नित्य अक्षय्य अन्न प्राप्त होते हैं। उसे रोटी के सवाल के लिये कोई लड़ाई नहीं लड़नी पड़ती। वह इससे निश्चिन्त हो जाता है क्योंकि उसे एक नित्य अन्न मिल जाता है जिससे कि वह सदा ही तृप्त बना रहता है। वह जानता है कि जिस तूने उसे शरीर दिया है और जो तू उस के इस शरीर की नाना तरह से रक्षा कर रहा है, वही तू उसके इस शरीर को अन्न भी देता रहेगा। सब दुनियाँ के पशु-पक्षियों की चिन्ता करनेवाला तू उसके शरीर की भी स्वयं चिन्ता करेगा, नहीं तो शरीर को ही वापिस ले लेगा। वह जानता है कि अपने भक्तों के प्रति तेरी यह प्रतिज्ञा है "तेषां नित्याभियुक्तानां

योगक्षेमं भजाम्यहम्"। भक्तों के योगक्षेम करने की चिन्ता तूने अपने ऊपर ले रखी है। बस, यही ज्ञान है जिसके कि कारण वे निश्चिन्त रहते हैं—तृप्त रहते हैं। यही ज्ञान "नित्य अन्न" है। यह रोटी का अन्न तो अनित्य है। आज खाते हैं, कल फिर भूख लग आती है। इससे नित्यतृप्ति नहीं प्राप्त होती पर उस आत्म-ज्ञान को प्राप्त होकर वे सदा के लिए तृप्त हो जाते हैं। वे इसी आत्म-ज्ञान पर जीते हैं, रोटी पर नहीं जीते। अतएव रोटी न मिलने पर (शरीर छूटने पर) वे मरते भी नहीं, वे अमर हो चुके होते हैं। हम लोग रोटी पर ही जीते हैं और रोटी न मिलने पर मर जाते हैं। इस अनित्य अन्न (रोटी) के हमेशा मिलते रहने का प्रबन्ध करके यदि इसे नित्य बनाने का यत्न किया जाय तो भी यह नित्य नहीं बनता; नित्यतृप्ति-कारक नहीं रहता, क्योंकि हमेशा अन्न मिलते रहने पर भी यह शरीर एक दिन बुड्ढा होकर छूट ही जाता है। रोटी उस समय उसकी तृप्ति नहीं कर सकती है। अतः नित्य अन्न तो ज्ञान-तृप्ति ही है। हे परमेश्वर ! इस युद्धमय संसार में तुम जिसके सहायक होते हो उसे यह शश्वत् अन्न देकर—इस शश्वत् 'इष्' का स्वामी बनाकर—तुम अमर भी कर देते हो।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने ! तू (यं मर्त्यं) जिस मनुष्य की (पृत्सु अवाः) युद्धों में रक्षा करता है और (यं वाजेषु जुनाः) और जिसे युद्धों में सहायता करता है (सः) वह मनुष्य (शश्वतीः) नित्य सनातन (इषः) अन्नों को (यन्ता) वश करता है—प्राप्त करता है।

*

* *

याद रख

शुक्रोऽसि, भ्राजोऽसि, स्वरसि, ज्योतिरसि

अथर्ववेद २-११-१५

❀ ❀ ❀

तू शुद्ध है, तू तेजरूप है,

तू आनन्दवाला है,

तू प्रकाश-

स्वरूप

है

वैशाख मास

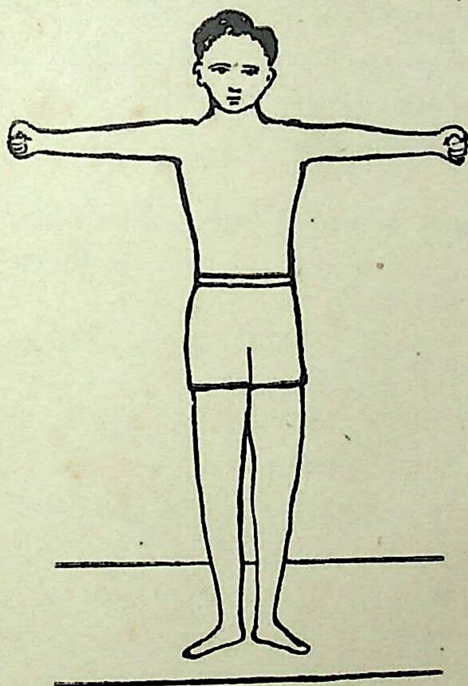
वैशाख (मेष)

के लिये

प्राणदायक व्यायाम

गले तथा गर्दन की स्वस्थता तथा नीरोगता लानेवाला

पूर्व निर्दिष्ट (चैत्र मास में निर्दिष्ट) विधि के अनुसार खड़े होकर भुजायें फैलाइए। इस बार हथेलियाँ सामने की ओर हों। मुठ्ठियाँ बाँधने के बाद सब मांसपेशियों (Muscles) को तान लीजिए। अब हाथों को धीमे-धीमे छाती के सामने यहां तक लाइये कि दोनों हाथ मिल जायँ। क्षण भर ठहर कर दोनों हाथों को फिर वापिस धीमे-धीमे ले जाइए। जब दोनों हाथों को छाती के सामने ले जा रहे हों तो उस समय दीर्घ श्वास अन्दर लीजिए जिससे कि जिस समय दोनों हाथ सामने मिलें उस समय तक फेफड़े पूरी तरह से भर जायँ और जब हाथों को वापिस ला रहें तो श्वास को धीमे-धीमे बाहिर निकालिए।



वैशाख



अब शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दीजिए। और इस तरह इस व्यायाम को ८-१० मिनट तक बार-बार कीजिए।

इस प्राणायाम को करते अपना मन, गर्दन तथा गले पर एकाग्र कीजिए और इनको अपने सामने स्वस्थ और सर्वथा नीरोग हालत में चित्रित कीजिए।

ध्यान—रुधिर मेरे गर्दन तथा गले में अच्छी तरह संचरण कर रहा है। इस प्राणामाम से मेरी एक-एक नाड़ी और इन अङ्गों का एक-एक घटक पुष्टि पा रहे हैं। सब जीर्ण परमाणु निकल रहे हैं और मुझे बहुत नवीन जीवन मिल रहा है।

इन अङ्गों को गौणतया श्रावण, कार्तिक और माघ की व्यायामों द्वारा भी लाभ पहुँच सकता है।

*

* *



अपां मध्ये तस्थिवान्सं तृष्णाऽविदत् जरितारम्।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥

ऋ० ७.८९.४ ॥

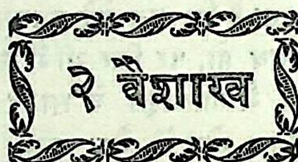
विनय

हे प्रभो ! क्या तुम्हें मेरी दशा पर तरस नहीं आता? संत लोग मेरे जैसे पर हँस रहे हैं और कह रहे हैं "मुझे देखत आवत हाँसी, पानी में मीन प्यासी।" सममुच मैं तो पानी के बीच में बैठा हुआ भी प्यास से व्याकुल हो रहा हूँ। तेरे करुणा-सागर में रहता हुआ भी मैं दुःखी हूं, संतप्त हूँ। जब कि तूने मेरी इच्छाओं को पूरा करने के ही लिए यह संसार ऐश्वर्यों से भर रखा है और तुम प्रतिक्षण मेरी एक-एक आवश्यकता को बड़ी सावधानी से ठीक-ठीक स्वयं पूरा कर रहे हो, तब मुझे अपने में कोई इच्छा या कामना रखने की क्या जरूरत है? पर फिर भी न जाने क्यों मुझे अनेकों तृष्णाएँ लग रही हैं, सैकड़ों कामनाएँ मुझे जला रही हैं। हे नाथ! मैं क्या करूँ? इस विषम दशा से मेरा कौन उद्धार करेगा? हे उत्तम शक्तिवाले! मैं इतना अशक्त हो गया हूँ—इतना निर्बल हूँ कि सामने भरे पड़े हुए पानी से भी अपनी प्यास बुझा लेने

मैं असमर्थ हूँ। मैं जानता हूँ कि मुझे क्या करना चाहिये, किन्तु कमज़ोरी इतनी है कि उसे मैं कर नहीं सकता। हे सच्चिदानन्दरूप! मैं देखता हूँ कि आत्मा में सचमुच अपरिमित बल है, तो भी मैं उस बल को ग्रहण नहीं कर सकता। मैं जानता हूँ कि मेरी आत्मा अमूल्य ज्ञान-रत्नों का भंडार है, पर मैं इस रत्नाकर के बीच में बैठा हुआ भी ज्ञान का भिखारी बना हुआ हूँ। मैं जानता हूँ कि तुम मेरे आनन्दमय प्रभु सर्वदा सर्वत्र हो, सदा मेरे साथ हो, पर फिर भी मैं कभी आनन्द नहीं प्राप्त कर पाता। अरे, मैं तो अमृत के सागर में पड़ा मरा जा रहा हूँ। तेरी अमृतमय गोद में बैठा हुआ, स्वयं अमृततत्व होता हुआ बार-बार मौत के मुँह में जा रहा हूँ। हे नाथ! अब तो मुझ पर दया करो, मुझे इस विषम अवस्था से उबार लो, अब तो मुझे सुखी कर दो। हे परमकारुणिक! हे सुक्षत्र! मुझे इतना क्षत्र—इतना बल—तो दे दो कि मैं सामने भरे पड़े जल का सेवन कर सकूं; इससे अपनी तृष्णा शान्त करके सुखी तो हो सकूँ। हे शक्तिवाले! जिस तूने मुझे इस पानी के सागर में रखा है वही तू मुझे इसके पीने का सामर्थ्य भी प्रदान कर जिससे कि मैं अपनी प्यास बुझा कर सुखी हो सकूँ। हे नाथ! मुझे सुखी कर, सुखी कर, अब तो अपनी शक्ति देकर मुझे सुखी कर। यह तेरा स्तोता कब से चिल्ला रहा है, इसे अब तो सुखी कर दे।

शब्दार्थ—

(जरितारं) मुझ स्तोता को (अपां मध्ये तस्थिवांसं) पानी के बीच में बैठे हुए भी (तृष्णा) प्यास (अविदत्) लगी है। (सुक्षत्र) हे शुभशक्तिवाले! (मृड) मुझे सुखी कर (मृडय) सुखी कर।



क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे ।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥

ऋ० ७. ८९. ३ ॥

विनय

हे मेरे तेजस्वी स्वामिन् ! मुझ दीन की प्रार्थना सुनो। मैं इतना दीन हूँ, इतना अशक्त हूँ कि अपने कर्तव्य के विरुद्ध आचरण कर देता हूं। मैं जानता हुआ कि यह करना नहीं चाहिये, फिर भी कर देता हूं। मैं कई शुभ संकल्प करता हूं कि मैं आज से नित्य व्यायाम करूंगा, नित्य सन्ध्या करूंगा, पर दीनता वश इसे निभा नहीं सकता। हृदय में कई अच्छी अच्छी प्रज्ञायें (बुद्धियाँ) स्थान पाती हैं पर झूठे लोक लाज के वश मैं उन पर अमल करना नहीं शुरू करता। उसके विरूद्ध ही चलता जाता हूं। यह मैं जानता होता हूं कि मेरा "क्रतु" क्या है—कर्तव्य कर्म क्या है, अन्दर से दिल कहता जाता है कि तू उलटे मार्ग पर चला जा रहा है, फिर भी मैं दुर्बल, किसी

भय का मारा हुआ, उसी उलटे मार्ग पर चलता जाता हूं। हे दीप्यमान देव! हे मेरे स्वामी! तू मुझे वह तेज क्यों नहीं देता जिससे कि मैं निर्भय होकर अपने कर्तव्य पर डटा रहूं, किसी के कहने से या हँसी उड़ाने से उलटा आचरण करने को प्रवृत्त न होऊँ, किसी क्लेश से डरकर अपने "क्रतु" को न छोड़ूँ। मुझे यह अवस्था बड़ी प्रिय लगती है पर दीनता वश मैं इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर रहा हूं। हे 'सुक्षत्र'! हे शुभ बल-वाले! मुझे अदीन बना दे। मैं दीनता का मारा हुआ तेरी शरण आया हूं। इस दीनता के कारण मुझ से सदा उलटे काम होते रहते हैं और फिर मेरा अन्तरात्मा मुझे कोसता रहता है; इसलिये मैं सदा बेचैन रहता हूं। हे प्रभो! मुझे सुखी कर। मुझ में तेज देकर मेरी बेचैनी दूर कर। इस अशक्तता के कारण मैं जीवन में पग-पग पर असफल हो रहा हूं—मेरा जीवन बड़ा निकम्मा हुआ जा रहा है। हे प्रभो! क्या कभी मेरे वे सुख के दिन न आवेंगे जब मैं अपने क्रतु पर दृढ़ रहा करूंगा, अपने संकल्पों पर अटल रहा करूंगा। हे मेरे स्वामी! ऐसी शक्ति देकर अब मुझे सुखी करदो, मुझे सुखी कर दो।

शब्दार्थ—

(समह) हे तेजोयुक्त! (शुचे) हे दीप्यमान! (दीनता) दीनता, अशक्तता के कारण मैं (क्रत्वः) अपने क्रतु से, संकल्प से, प्रज्ञा से कर्तव्य से (प्रतीपं) उलटा (जगम) चला जाता हूँ (सुक्षत्र) हे शुभ शक्तिवाले! (मृड) मुझे सुखी कर (मृडय) मुझे सुखी कर।

*

* *



३ वैशाख

यस्माहते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ॥

ऋ० १. १८. ७ ॥

विनय

हममें से बहुत से लोगों को अपनी अक्ल का—अपनी बुद्धि का—बहुत अधिक अभिमान होता है। वे समझते हैं कि वे अपनी अक्ल व चतुराई के बल पर हर एक कार्य में सिद्धि पा लेंगे, उन्हें अपने बुद्धि-बल के सामने कुछ भी दुःसाध्य नहीं दीखता। पर उन्हें यह मालूम नहीं कि बहुत बार उन्हें जिन कार्यों में सफलता मिलती है वह इसलिये मिलती है कि अचानक उस विषय में उनकी समझ (बुद्धि) प्रभु के बुद्धियोग के अनुकूल होती है। असल में तो इस जगत् का एक-एक छोटा बड़ा कार्य उस प्रभु के योगबल (बुद्धियोग) द्वारा सिद्ध हो रहा है। हम मनुष्यों की बुद्धि जब प्रभु के बुद्धियोग के अनुकूल (जानबूझ कर अनुकूल होती है या अचानक) होती है तब हमें दीखता है कि हमारी बुद्धि से क्रिया काय सफल हो गया। पर अचानक हुई अनुकूलता के कारण जो हमें अपनी सफलता का अभिमान हो जाता है, वह सर्वथा मिथ्या होता है। वह हमें केवल धोखे में रखने का कारण बनता है और कुछ नहीं। पर जो जान बूझ कर प्राप्त की गई अनुकूलता होती है वही सच्ची होती है। यदि मनुष्य अपने कार्यों की

सिद्धि चाहता है—अपने कार्यों को सफल-यज्ञ बनाना चाहता है, तो उसे यत्न पूर्वक अपनी बुद्धि को प्रभु से मिलाना चाहिए, अपनी बुद्धि का प्रभु में योग करना चाहिये। हमारी बुद्धि प्रभु से युक्त होगई है—उसकी बुद्धि से जुड़ गई है कि नहीं—यह पूरी तरह से निर्णीत कर लेना तो हम अल्पज्ञ पुरुषों के लिये सदा संभव नहीं होता। हमारे लिये तो इतना ही पर्याप्त है कि हम युक्त करने का यत्न करते जांय। प्रभु सत्यमय हैं अतः हमारी बुद्धि सदा सत्य और न्याय के अनुकूल हो रहे (हमारे ज्ञान में जो कुछ सत्य और न्याय है, बुद्धि उसके विपरीत ज़रा भी निर्णय न करे) यह यत्न करना ही पर्याप्त है। हमारी बुद्धि के प्रभु से योग करने का यत्न करते हुए जब यह योग परिपूर्ण हो जाता है अर्थात् इस योग में प्रभु व्याप्त हो जाते हैं तभी वह कार्य सिद्ध हो जाता है। अतः हमें अपनी बुद्धियों का अभिमान छोड़ कर, हमारे यज्ञ-कार्य में जो बड़े प्रसिद्ध अक़्लमन्द लोग हैं उनकी बुद्धिबल पर भरोसा करना छोड़ कर, नम्र होकर अपनी बुद्धियों को सत्य और न्याय तत्पर बना कर प्रभु से जोड़ने का यत्न करना चाहिये। हम चाहे कितने बुद्धिमान हों पर हमें सदा अपनी बुद्धि प्रभु से जोड़ कर रखनी चाहिये। प्रभु के अधिष्ठान के बिना कोई भी यज्ञ-कार्य सफल नहीं हो सकता है।

शब्दार्थ—

(यस्मात् ऋते) जिस प्रकाशक प्रभु के बिना (विपश्चितः च न) बड़े बड़े बुद्धिमान् अक़्लमन्द का भी (यज्ञः) यज्ञ (न सिद्धयति) सिद्ध नहीं होता (स) वह प्रभु (धीनां योगं इन्वति) बुद्धियों के योग में व्याप्त हो जाता है।



तमध्वरेषु ईडते देवं मर्त्ता अमर्त्यम् ।
यजिष्ठं मानुषे जने ॥

ऋ ५, १४, २ ॥

विनय

नाना प्रकार के यज्ञों में जो हम विविध कर्म करते हैं, असल में हम उन सब कर्मों द्वारा उस अमर देव का ही पूजन करते हैं। हम मरणशील मनुष्यों को अमर देव के ही यजन करने की ज़रूरत है। प्रत्येक यज्ञ-कर्म का प्रयोजन यही है, कि हम उस द्वारा मृत्यु से पार हो जांय—अमर हो जांय। यज्ञ मर्त्य को अमर बनाने के लिये ही हैं। पर हम यज्ञों द्वारा जिस अमर देव की पूजा करते हैं, वह अमर देव कहाँ पर है? सुनो, वह अमर देव प्रत्येक मानुष जन में हैं, प्रत्येक मनुष्य में 'यजिष्ठ' होकर विद्यमान है। हमें प्रत्येक मनुष्य में उसका यजन करना चाहिये। इसीलिये कहा जाता है कि यज्ञ सब मनुष्यों के हित के लिये होता है। यज्ञ का स्वरूप परोपकार—एक एक मनुष्य का हितसाधन है। मनुष्यों की सेवा करना ही यज्ञ करना है। जितना हम मनुष्यों की सेवा करते हैं—मनुष्यों की पीड़ाओं और दुःखों को दूर करने के लिये निस्वार्थ भाव से यत्न करते हैं—उतना ही हमारे ये कार्य यज्ञ होते हैं। अग्निहोत्र द्वारा किये जाने वाले पुराने ऋतु यागादि भी

आधिदैविक देवों की अनुकूलता प्राप्त करके मनुष्य जनता के हित के प्रयोजन से ही किये जाते थे। पर इतने से भी यज्ञ का तात्पर्य पूरा नहीं होता। मनुष्यों की जिस किसी प्रकार की सेवा करने से यज्ञ नहीं हो जाता। हमने तो प्रत्येक मनुष्य में उस अमर देव का ही यजन करना है। जिस सेवा से मनुष्य के अमरदेव की सेवा नहीं होती, वह सेवा सेवा नहीं है, वह सेवा यज्ञ नहीं है। भोगविलास की सामग्री जुटाने से बेशक मनुष्य की तृप्ति होती दीखती है, पर यह मनुष्यों की सच्ची सेवा नहीं है। ऐसा 'परोपकार' यज्ञ नहीं, अयज्ञ है। इसी प्रकार भूखों को इस तरह अन्न देना, रोगियों को इस तरह औषध देना भी जो कि उनकी सच्ची उन्नति में—उन्हें अमर बनाने में—बाधक होवे; यह भी यज्ञ नहीं है। अर्थात् जनता की भौतिक-उन्नति साधना तभी तक यज्ञ है जब तक कि यह भौतिक उन्नति उनकी आध्यात्मिक उन्नति के लिये ही हो। आध्यात्मिक उन्नति करना है—दूसरे शब्दों में—मर्त्य से अमर बनना है। आओ, हम मर्त्य अमरदेव की पूजा करें, मनुष्य की ऐसी सेवा करने में अपने को खो देवें जो सेवा उन के अमर बनने में सहायक हो।

शब्दार्थ—

(अध्वरेषु) सब यज्ञों में (मर्त्ता) हम मरणशील मनुष्य (तं अमर्त्यं देवं) उस अमर—कभी न मरने वाले—देव की ही (ईडते) पूजा करते हैं जोकि देव (मानुषे जने) प्रत्येक मनुष्य के अन्दर (यजिष्ठं) यजनीय है।

*

* *



य एक इत् तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः ।
पति र्जज्ञे वृषक्रतुः ॥

६.४५.१६ ॥

विनय

हे मनुष्य ! तू किस किस की स्तुति करता फिरता है? संसार में तो एक ही स्तुति के योग्य है। संसार में हम मनुष्यों का एक ही पति, पालक और रक्षक है। हे मनुष्य! तू न जाने किस किस को पालक समझता है और उस उसकी स्तुति करने लगता है। कहीं तू रुपये पैसेवाले व्यक्ति को अपना रक्षक समझता है, कहीं तू किसी लब्ध-प्रतिष्ठ रोबदाबवाले व्यक्ति को अपना स्वामी बनाकर रहता है। कहीं तू किसी दार्शनिक व कवि की प्रज्ञा व प्रतिभा के स्तुति-गीत गाने लगता है, उनके ज्ञान व कवित्व पर तू मोहित रहता है। संसार में ऐसे भी मनुष्य बहुत हैं जोकि किन्हीं जीवित व जीव-रहित आकृतियों के सौन्दर्य को देखकर ही ऐसे मोहित हो जाते हैं कि उनका मन उस सौन्दर्य की प्रशंसा करता नहीं थकता। परन्तु संसार में मनुष्य की स्तुति के पात्र बहुत नहीं हैं। एक ही है, केवल एक ही है; और वह इन सब स्तुत्य वस्तुओं का एक स्रोत है। उसकी स्तुति न कर, इन शाखाओं की स्तुति करने से कल्याण नहीं होता—रक्षा नहीं मिलती। रूप रस आदि ऐन्द्रियक विषयों की स्तुति तो मनुष्य का विनाश ही करती हैं,

पालन कदापि नहीं। इनकी स्तुति तो अति अज्ञानी पुरुष ही करते हैं। पर जो संसार में हमारे अन्य रक्षा करने वाले बल, ज्ञान और आनन्द हैं (बली, ज्ञानी और सुखी लोग हैं) वे भी "विचर्षणि" "वृषक्रतु" नहीं है, उनमें ज्ञान और बल पर्याप्त नहीं है। संसार के ये सब बल, ज्ञान और आनन्द तो उस एक सच्चिदानन्द महासूर्य की क्षुद्र किरणें मात्र हैं। इन किरणों की स्तुति करने से अपने को बड़ा धोखा खाना पड़ेगा। हे मनुष्य! ये संसार के क्षुद्र बल और ज्ञान मनुष्य का पालन न कर सकेंगे, ये बीच में ही छोड़ देंगे। इन में पूरा ज्ञान और बल नहीं है। अतः इन में आसक्त होकर इनकी स्तुति मत कर। स्तुति उस 'मनुष्यों के एक पति' की कर, जो "विचर्षणि" होता हुआ पालक है और "वृषक्रतु" होता हुआ पालक है। वह एक-एक मनुष्य को विशेषतया देख रहा है। प्रत्येक मनुष्य को और उसके सब संसार को वह इतनी अच्छी तरह देख रहा है कि प्रत्येक मनुष्य यही अनुभव करेगा कि उस मेरे प्रभु को मानों एकमात्र मेरी फ़िक्र है। और उस पालक पति का एक-एक क्रतु, एक-एक संकल्प, एक-एक कर्म ऐसा 'वृष' अर्थात् बलवान् है कि उसकी सफलता के लिये उसे दुबारा संकल्प व यत्न करने की जरूरत नहीं होती। हे मूर्ख मनुष्य! अपने उस 'पति' की ही स्तुति कर, उसकी सैकड़ों किरणों की स्तुति छोड़ कर उस असली सूर्य की ही स्तुति कर, उस एक की ही स्तुति कर।

शब्दार्थ—

(य एक इत्) जो एक ही है और जो (कृष्टीनां) मनुष्यों का (विचर्षणिः) सर्व द्रष्टा और (वृषक्रतुः) सर्वशक्तिमान् (पतिः) पालक (जज्ञे) हुआ है (तं उ) उसकी ही (स्तुहि) तू स्तुति कर।



६ वैशाख

महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः ।
नास्य क्षीयन्त ऊतय ॥

ऋ० ६. ४५. ३ ॥

विनय

मैं क्या बतलाऊँ प्रभु किन-किन अद्भुत ढंगों से मनुष्यों को उन्नत कर रहे हैं। जब मनुष्य रोता और पीटता रहता है, जब उसके अन्दर ऐसे युद्ध चल रहे होने हैं कि उसे विफलता पर विफलता ही मिलती जाती है, पीछे से पता लगता है कि उस समय में, उन्हीं दिनों में, उसने अपनी उन्नति का बहुत बड़ा रास्ता तै कर लिया होता है। मनुष्य प्रभु की कल्याणमयी घटनाओं को नहीं समझ पाता कि उन घटनाओं से कभी-सुदूर भविष्य में—उसका कल्याण कैसे सधेगा। प्रभु के उन्नत करने-वाले मार्ग इतने महान् और विशाल हैं कि अल्पदृष्टि मनुष्य उन्हें पूर्णता में कभी नहीं देख सकता, अतएव वह कल्याण को तरफ जाता हुआ भी घबराया रहता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृति—स्वभाव—के अनुसार अपने-अपने निराले ढंग से उन्नत व विकसित हो रहा है। जब मनुष्य अपने ही उन्नति-मार्ग को नहीं समझ पाता तो उसके लिये दूसरे मनुष्यों के विकास का दावा भरना कितना कठिन साहस है! उस अगम्य

लीला वाले प्रभु की जिस 'प्रणीति' से जिस व्यक्ति ने उन्नति पायी होती है वह व्यक्ति उसी रूप में उस प्रभु के गीत गाता फिरता है। इस तरह अनादिकाल से मनुष्य नाना प्रकार से उसकी प्रशस्तियां गाते आ रहे हैं और गाते रहेंगे। मनुष्य उसकी स्तुतियों का कैसे पार पावें ? भक्त पुरुष तो उस प्रभु की रक्षाओं का—रक्षा के प्रकारों का—ही अन्त नहीं देखता। प्रभु की रक्षण-शक्ति कभी क्षीण नहीं होती, वहाँ से रक्षणों का एक ऐसा सनातन प्रवाह बह रहा है कि वह सब मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट पतंगों की, सब स्थावर और अस्थावर जगत् की, एक ही समय में अकल्पनीय तरीकों से रक्षा कर रहा है। मनुष्य अपने पिछले कुछ अनुभवों के आधार पर सोचता है कि ऐसा होने से मेरी रक्षा हो जायगी अतः वह वैसा ही होने की प्रभु से प्रार्थना करता है और वैसी ही आशा करता है। पर इस बार प्रभु एक बिलकुल नये मार्ग से रक्षा करके मनुष्य को आश्चर्यचकित कर देते हैं। एवँ नये से नये अकल्पनीय ढंगों से मनुष्य को प्रभु का रक्षण मिलता जाता है। तब पता लगता है कि प्रभु संसार का सब प्रकार से कल्याण ही कर रहे हैं। हम मानें या न मानें, पर वे तो हमें मारते हुए भी हमारी रक्षा कर रहे हैं। अहो, देखो उस प्रभु के उन्नति-मार्ग महान् हैं, उसकी रक्षा के प्रकार अनन्त हैं, सब जानने वाला संसार उसकी स्तुतियाँ ही स्तुतियाँ गाता है।

शब्दार्थ—

(अस्य) इस परमेश्वर के (प्रणीतयः) आगे ले जाने के—उन्नत करने के—मार्ग (महीः) बड़े हैं (उत प्रशस्तयः पूर्वीः) और इसकी प्रशंसायें सनातन हैं (अस्य ऊतयः न क्षीयन्ते) इसकी रक्षायें कभी क्षीण नहीं होतीं।



उत नः सुभगाँ अरि र्वोचुयु र्दस्म कृष्टयः ।
स्यामेत् इन्द्रस्य शर्मणि ॥

ऋ० १. ४. ६ ॥

विनय

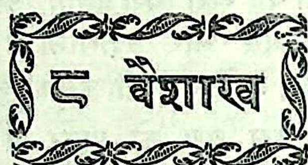
हे पापों और बुराइयों का उपक्षय करने वाले जगदीश्वर! तुम्हारी कृपा से मैं इतना उच्च हो जाऊँ कि मेरी अच्छाइयों का बखान मेरे शत्रु भी करें। मेरी तरफ से तो मेरा कोई शत्रु नहीं होना चाहिये, पर मेरे प्रतिद्वन्द्वी हैं– जिनके कि विचार मेरे विचारों से नहीं मिलते, जो कि मेरे वायुमण्डल से बिलकुल उलटे वायुमण्डल में रहते हैं—उन मेरे विरोधी भाइयों के लिये यह स्वाभाविक होगा कि उनके कानों में सदा मेरे अवगुण ही पहुँचे और उनका दृष्टिकोण ही ऐसा होगा कि उन्हें मेरी बुराइयाँ ही सहज में दिखाई देवें। पर हे प्रभो! यदि मेरा जीवन बिलकुल पवित्र होगा, मेरे आचरण में सर्वथा सचाई और शुद्धता होगी तो मेरे जीवन का उस दूरस्थ (विचारों से मुझ से दूर रहने वाले) भाई पर भी असर क्यों न होगा? बस, हे प्रभो! मेरे अन्दर से सब बुराइयों का नाश करके मुझे ऐसा उच्च बना दो कि जो मुझसे इतनी विपरीत परिस्थिति में रहते हैं उन पर भी मेरी अच्छाई की, उच्चता की, छाप पड़े

बिना न रहे। सामान्य मनुष्य तो मुझे अच्छा कहेंगे ही, मेरी स्तुति करेंगे ही, पर इन विरोधियों के अन्तःकरण भी मेरी विशुद्धता को पहिचाने, यही इच्छा है। अपने सच्चे विरोधियों से जो यश मिलेगा वह खरा यश होगा, उसमें अत्युक्ति आदि का खोट न होगा। मित्र और उदासीनों से तो यश मिला ही करता है, उसमें कुछ विशेषता नहीं, उसका कुछ मूल्य नहीं।

पर हे प्रभो! इस यश को पाकर मैं फूल नहीं जाऊँगा, तुम्हें भूल नहीं जाऊँगा, बल्कि इस यश को भूला रहकर सदा तुम्हारी ही याद में सुखी रहूंगा। यह यश तो मेरी विशुद्धता की पहचान मात्र होगा, यह मेरे सुख का कारण कभी नहीं होगा। मेरा सुख तो तुम्हारी शरण में है। बाहिरी दुनियाँ चाहे मेरी घोर निन्दा करे, मुझे अपमानित करें तो भी मैं तेरे प्रसाद से पाये सुख से वैसा ही सुखी रहूँगा जैसा कि बाहिरी यश पाने पर हूँ। मेरा सुख या दुःख बाहिरी यश या अपयश पर अवलम्बित न होगा। हे प्रभो! ऐसी कृपा करो कि तुझ परमेश्वर की प्रसन्नता से पाए हुए सुख में ही मैं सदा सुखी, आनन्दित और सन्तुष्ट रहूं। बाहिरी यश द्वारा सुख पाने की चाह मुझे कभी उत्पन्न न हो, बाहिरी यश मिलते होने पर भी उस यश से सुख पाने की चाह मुझे कभी न उत्पन्न हो। मैं तुम्हारे ही सुख में रहूँ।

शब्दार्थ—

(दस्म) हे पापनाशक इन्द्र! (अरिः उत) शत्रु भी (नः सुभगान् [वोचेयुः]) हमारी अच्छाइयों को, हमारे सौभाग्यों को कहें (कृष्टयः वोचेयुः) सामान्य मनुष्य तो कहें ही। फिर भी हम (इन्द्रस्य इत्) तुझ परमेश्वर के ही (शर्मणि) सुख में (स्याम) रहें, होवें।



वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः ।
प्रजावन्तः सचेमहि ॥

ऋ० १०.५७. ६ ॥

विनय

हे सोम ! तुम्हारा दिया हुआ, तुम्हारी महाशक्ति का अंश भूत मन हमारे शरीरों में विद्यमान है। इस मन का—इस तुम्हारी अमूल्य देन का—हमें गर्व है। इस मन के कारण ही हम मनुष्य हैं। इस मननशक्ति के कारण ही हम पशुओं से ऊँचे हुए हैं। तो क्या अपने शरीरों में मन जैसी प्रबल शक्ति को धारण किये हुए भी हम लोग तुम्हारे व्रत में न रह सकेंगे ? बेशक तुम्हारे व्रत का पालन करना बड़ा कठिन है। तुमने जगत् में जो उन्नति के नियम बनाये हैं। ठीक उनके अनुसार चलना बड़ा दुःख साध्य है पर जहाँ तुमने ये कठिन नियम बनाये हैं वहाँ तुमने ही हममें मन की अतुलशक्ति भी दी है। अतः हमारा दृढ़ निश्चय है कि हम अपनी मनःशक्ति के प्रयोग द्वारा सदा तुम्हारे व्रत में ही रहेंगे—कभी इसका भङ्ग न करेंगे—कठिन से कठिन प्रलोभन व विपत्ति के समय में भी मनःशक्ति द्वारा व्रत में स्थिर रहेंगे ।

पर यह सब व्रत पालन किस लिए है ? यह तुम्हारी सेवा के लिए है। यह तुम्हारा दिया मन इसी काम के लिए है। हम चाहते हैं कि केवल यह हमारा मन ही नहीं, किन्तु हमारे मन की प्रजा भी तुम्हारी सेवा में ही काम आवे। मन में जो एक रचना-शक्ति (Creative Power) है, उस द्वारा प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह कुछ रचना कर जावे, कुछ निर्माण कर जावे। यह रचना ही मन की प्रजा है। यदि हम, हे सोम ! सर्वथा तुम्हारे व्रत में होंगे तो हमारी यह रचना (प्रजा) भी निःस्संदेह तुम्हारी सेवा के लिए ही होगी—इसी में व्यय होगी। एवं हम और हमारी प्रजा सदा तुम्हारी सेवा में रहें, तुम्हारी सेवा में ही अपना जीवन बिता देवें। अब यही संकल्प है, यही इच्छा है, यही प्रार्थना है।

शब्दार्थ—

(सोम) हे सोमदेव ! (तनूषु) अपने शरीरों में (मनः) मन को, मनः शक्ति को (विभ्रतः) धारण किये हुए (वयं) हम लोग (तव व्रते) तुम्हारे व्रत में हैं—तुम्हारे व्रत का पालन करते हैं और (प्रजावन्तः) प्रजा सहित हम लोग (सचेमहि) तुम्हारी सेवा करते रहें।

*
* *



६ वैशाख

अहमिद्धि पितुःपरि मेधामृतस्य जग्रभ।
अहं सूर्य इवा जनि ॥

ऋ० ८. ६. १० ॥ साम० पू २, २. ६. ८ ॥ अथर्व० २०. ११५. १ ॥

विनय

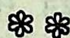
मैं सूर्य के सदृश हो गया हूँ। मैं अनुभव करता हूँ कि मैं मनुष्यों में सूर्य बन गया हूं। मुझ सूर्य से सत्यज्ञान की किरणें सब तरफ निकल रही हैं। जैसे इस हमारे सूर्य से प्राणि-मात्र को ताप, प्रकाश और प्राण मिल रहा है, सबका पालन हो रहा है; इसी तरह मैं भी ऐसा हो हो गया हूँ कि जो कोई भी मनुष्य मेरे संपर्क में आता है उसे मुझ से ज्ञान, भक्ति और शक्ति मिलती है। मैं कुछ नहीं करता हूं पर मुझे अनुभव होता है कि मुझ से स्वभावतः जीवन की किरणें चारों तरफ निकल रही हैं और चारों तरफ के मनुष्यों को उच्च, पवित्र और चेतन बना रही हैं। इसमें मेरा कुछ नहीं है, मैंने तो प्रभु के आदित्य (सूर्य) रूप की ठीक तरह से उपासना की है अतः उनका ही सूर्यरूप मुझ द्वारा प्रकट होने लगा है। मैंने बुद्धि द्वारा सूर्य की उपासना की है। मनुष्य का बुद्धि-

स्थान (सिर) ही मनुष्य में द्युलोक (सूर्य का लोक)। मैंने अपनी बुद्धि द्वारा सत्य का ही सब तरफ से ग्रहण किया है और ग्रहण करके इसे धारण किया है। धारण करने वाली बुद्धि का नाम ही 'मेधा' है। इस प्रकार मैंने मेधा को प्राप्त किया है, द्युलोक के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर द्युलोक को अपने में ग्रहण किया है, इसीलिये मैं सूर्य के समान हो गया हूं। द्युलोक में स्थित प्रभु का रूप ऋतरूप है सत्य रूप है। मैंने अपनी सब बुद्धियाँ, सब ज्ञान, उन सत्य स्वरूप पिता से ही ग्रहण किये हैं। मैंने इसका आग्रह किया है कि मैं सत्य को ही—केवल सत्य को ही—अपनी बुद्धि में स्थान दूंगा। इस तरह मैंने प्रभु के द्युरूप की सतत उपासना की, है ऋत की मेधा का परिग्रह किया है। इस सत्य बुद्धि के धारण करने के साथ-साथ मुझमें भक्ति और शक्ति भी आगई है, मेरा मन और शरीर भी तेजस्वी हो गया है। पालक पिता के सब गुण मुझ में प्रकट हो गये हैं। मैं सूर्य हो गया हूं। हे मुझे सूर्यसमान करने वाले मेरे कारुणिक पिता! तुझ ऋत की मेधा को सब तरह से पकड़े हुए मैं तेरे चरणों में पड़ा हुआ हूँ।

शब्दार्थ

(अहं इत्) मैंने तो (हि) निश्चय से (पितुः) पालक पिता (ऋतस्य) सत्यस्वरूप परमेश्वर की (मेधा) धारणावती बुद्धि को (परिजग्रभ) सब तरफ से ग्रहण कर लिया है, अतः (अहं) मैं (सूर्य इव) सूर्य के समान (अजनि) हो गया हूँ।







समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।
समुद्रायेव सिन्धवः ॥

ऋ० ८.६.४ ॥ साम० पू० २.१.५.३ ॥ अ० २०.१०७.१ ॥

विनय

इन्द्र परमेश्वर जहां हमारे पिता हैं, उत्पादक और पालक हैं, वहाँ वे हमारे कल्याण के लिये रुद्र भी हैं, संहारकर्त्ता भी हैं। जब जगत् में किसी स्थान पर संहार की आवश्यकता आजाती है तो प्रभु अपने मन्यु को प्रकट करते हैं, मानो अपना तीसरा नेत्र खोल देते हैं, अपने तीसरे रूप को प्रकाशित करते हैं। उस कल्याणकारी शिव के मन्यु का तेज जब देदीप्यमान होने लगता है तो सब नाश होने योग्य संसार पतंगे की तरह आ आकर उसमें भस्म होने लगता है; मन्यु का पात्र कोई भी व्यक्ति बच नहीं सकता, सब बहे चले आते हैं। देखो समय समय पर बड़े-बड़े संग्राम, दुष्काल या महामारी आदि रूपों में प्रभु का वह महा बलवाला मन्यु जगत् में प्रकट होता रहता है। सब मनुष्य अपने विनाश की तरफ खिंचे चले जा रहे होते हैं पर उन्हें यह मालूम नहीं होता। जैसे कि सब नदियाँ समुद्र की तरफ़ बही चली जा रही हैं और उसमें जाकर समाप्त हो जायँगी, लीन हो जायँगी; उसी तरह प्रभु का मन्यु काल-समुद्र बनाकर उन सब प्राणियों को अपनी तरफ खींचता जा रहा है जिनका कि समय आ गया है। मनुष्यों

किए हुए पाप उन्हें विनाश की ओर वेग से खींचे ले जा रहे हैं। जिन्होंने इस संसार को ज़रा भी तह के अन्दर घुस कर देखा है वे देखते हैं कि किस किस विचित्र ढंग से मनुष्य अपने मृत्यु-स्थल की तरफ़ खिचे चले जा रहे हैं। धन्य होते हैं अर्जुन जैसे दिव्यदृष्टिप्राप्त पुरुष जिन्हें कि काल का यह आकर्षण दिखायी दे जाता है और जो देखते हैं कि "यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखं द्रवन्ति। तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिज्वलन्ति" पर हम लोग तो मौत के मुंह में घुसे जा रहे होते हैं पर कुछ पता नहीं होता। हम में से अपनी शक्तियों का बड़ा गर्व करने वाले बड़े-बड़े प्रख्यात लोग जिस समय संसार को जितने अभिमान के साथ अपना पराक्रम दिखा रहे होते हैं, उसी समय वे उतने ही वेग से मृत्यु की तरफ दौड़े जा रहे होते हैं; पर उन्हें कुछ पता नहीं होता। जब कि उनका सब ठाठ एक क्षण में गिर पड़ता है, सामने मौत खड़ी दीखती है तब जाकर प्रभु का रुद्र रूप उन्हें दीखता है। प्यारो! तो तुम अभी से क्यों नहीं देखते कि उसके मन्यु के सामने सब संसार झुका पड़ा है—पापी होकर कोई भी मनुष्य उसके सन्मुख खडा नहीं रह सकता है—जिससे तुम अभी से उसके मन्यु का पात्र न बनने की समझ पा सको।

शब्दार्थ—

(अस्य) इस परमेश्वर की (मन्यवे) मन्यु, 'क्रोध', दीप्ति के के सामने (विश्व विशः) सब प्रजाएँ (कृष्टयः) सब मनुष्य (सं नमन्त) ऐसे झुक जाते हैं (समुद्राय इव सिन्धवः) जैसे कि नदियाँ समुद्र में समा जाने के लिए उधर स्वयं बही जाती हैं।

*

* *

११ वैशाख

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिः गीर्भिः ईमहे ।
इन्द्र अभिमातिषाह्ये ॥

ऋग्वेद० ३. ३७. ३ ॥ अथर्व० २०. १९. ३ ॥

विनय

हे परमेश्वर ! मुझे यह वाणी तेरे नामोच्चारण के लिए ही मिली है। मैं निरन्तर तेरे पवित्र नामों का उच्चारण करता रहता हूं। तेरी दी हुई इस वाणी से मैं अन्य कुछ कर ही नहीं सकता; कोई भी निरर्थक बात, कोई भी अनीश्वरीय बात, मेरी वाणी से नहीं निकल सकती। मेरे एक-एक कथन में तेरी ही धुन होती है, तेरा ही निवास होता है। हे इन्द्र ! मैं इस प्रकार अपनी सब वाणियों से नानारूप में तेरे ही नामों का कीर्तन करता रहता हूं। यदि मैं ऐसा न करूँ तो मैं अपने शत्रुओं को कैसे पराजित कर सकूँ ? उनसे कैसे रक्षित रहूँ ? तेरा पवित्र नामोच्चारण करता हुआ ही मैं निरन्तर सब शत्रुओं पर विजयी हुआ हूं और हो रहा हूं। मेरा सबसे बड़ा शत्रु "अभिमाति" है, अभिमान है। आजकल इस महाशत्रु को मार डालने के लिए विशेषतया तेरा नाम मेरा महाअस्त्र हो रहा है। जब मनुष्य के काम क्रोध आदि अन्य शत्रु जीते जा चुके होते हैं, मनुष्य आत्मिक उन्नति की ऊँची अवस्था को पहुँचा होता है, तब भी यह अभिमान, अहंकार, अस्मिता, मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ता। यह है जोकि अविद्या का कुछ अंश शेष रहने तक भी आत्मा

का मुक़ाबला करता रहता है। यही है जोकि, हे मेरे परमेश्वर! मुझे अन्त तक तुमसे जुदा किए रहता है। जब मनुष्य खूब उन्नत हो जाता है, तब उसे और कुछ हीं तो, अपनी उन्नतावस्था का, अपने पुण्यात्मा होने का अभिमान हो जाया करता है। यह अभिमान ही मनुष्य को बिल्कुल पतित कर देने के लिए पर्याप्त होता है। इसीलिए ही हे शतक्रतो! हे अनन्तवीर्य! हे अनन्त प्रज्ञ! इसीलिए मैं निरन्तर तेरे नामको जपता रहता हूं, जीभ पर तेरा परमपवित्र नाम रखे फिरता हूं। जब ज़रा भी अभिमान मन में आता है "यह बड़ा भारी काम मैं कर रहा हूं" "यह मैंने किया है" तो तुरन्त मेरे हाथ जुड़ जाते हैं और मुखसे तेरा नाम निकल पड़ता है। इस तरह इस महाशत्रु से मेरी रक्षा हो जाती है। तेरा नाम मुझे तुरन्त नमा देता है, तेरा स्मरण आते ही मैं अनवत-शिर होकर भूमि पर मस्तक टेक देता हूं—तो उस महाबली अभिमान को क्षण भर में विलीन हो चुका पाता हूँ, चारों तरफ़ कोसों दूर तक उसका पता नहीं होता; सब पृथ्वी पर तुम ही तुम होते हो, और मैं तुम्हारे चरणों में। मैं उस समय तेरे पृथ्वीरूप विस्तृत चरणों में लगी हुई धूल का एक परम तुच्छ कण बनकर निराभिमानता के परम परम सात्विक सुख का उपभोग पाता हूँ। हे नाथ! तेरे नाम की अपार महिमा का मैं क्या वर्णन करूँ।

शब्दार्थ—

(शतक्रतो) हे अनन्त कर्म! हे अनन्त प्रज्ञ! (विश्वाभिःगीर्भिः) मैं अपनी सब वाणियों से (ते नामानि) तेरे नामों को (ईमहे) लेता हूँ—लेता रहता हूँ; (इन्द्र) हे परमेश्वर! (अभिमातिषाह्ये) शत्रु का—अभिमान शत्रु का—पराभव करने के लिए लेता हूँ।

१२ वैशाख

सदा व इन्द्रश्चर्कृषत् आ उपो नु स सपर्यन् ।
न देवो वृतः शूर इन्द्रः ॥

साम० पू. ३. १. १. ३ ॥

विनय

हे मनुष्यो ! तुम अपने परमात्मा से प्रेम क्यों नहीं करते ? जहाँ हरिकथा होती है वहाँ से तुम भाग आते हो । बार बार प्रभु-चर्चा होती देख कर तुम ऊबते हो, जब कि विषयों की चर्चाएँ सुनने के लिए सदा लालायित रहते हो । तुम्हें उस अपने पिता से इतना हटाव क्यों है ? तुम चाहे जो करो, पर वह देव तो तुम्हें कभी भुला नहीं सकता । वह तो तुम्हें प्रेम से अपनी तरफ आकृष्ट ही कर रहा है, सदा आकृष्ट कर रहा है, निरन्तर अपनी तरफ खींच रहा है । तुम जानो या न जानो पर वह अत्यन्त समीपता के साथ माता की तरह तुम पुत्रों की निरन्तर परिचर्या भी कर रहा है । वह परमेश्वर हमारे रोम-रोम में रमा हुआ, हमारे एक एक श्वास के साथ आता-जाता हुआ, हमारे मन के एक-एक चिन्तन के साथ तद्रूप हुआ हुआ, और क्या कहें, हमारी आत्मा की आत्मा होकर, एक अकल्पनीय एकता के साथ हमसे जुड़ा हुआ है । हमें संसार में जो कुछ प्रेम, आराम, वात्सल्य, भोग, सेवा, सुख मिल रहा है वह किन्हीं इष्ट मित्रों या प्राकृतिक वस्तुओं से नहीं मिल रहा

है, वह सब हमारे उस एक अनन्य सम्बन्धी परमदयालु प्रभु से ही मिल रहा है। वह केवल हमें अपनी तरफ खींच ही नहीं रहा है, किन्तु इतनी समीपता से निरन्तर हमारी सेवा भी कर रहा है, प्रेमप्रेरित होकर हमारी ख़िदमत कर रहा है, हमारा पालन, पोषण, रक्षण, दुखनिवारण आदि सब परिचर्या कर रहा है। अरे! वह तो कहीं छिपा हुआ भी नहीं है। उसके और हमारे बीच में कोई भी आवरण नहीं है। उसे ढका हुआ, आच्छादित भी कौन कहता है? हे मनुष्यो! सच बात तो यह है कि यदि हम उसके इस प्रेमाकर्षण को जानने लग जायँ—वे प्रभु देव सदा प्रेम से हमें अपनी तरफ़ खींच रहे हैं, यह हम सचमुच अनुभव करने लग जायँ—तो हमें यह भी दीख जाय कि वे हमारे अत्यन्त निकट हैं और अत्यन्त निकटता के साथ हमारी सेवा-शुश्रूषा कर रहे हैं; और फिर एक दिन हमें यह भी दीख जाय कि वे सब ब्रह्माण्ड के रचयिता महा पराक्रमी इन्द्र प्रभु—जिनके कि विषय में परोक्षतया हम इतनी बातें सुना करते थे, वे-हमसे किसी आवरण से ढके हुए भी नहीं हैं, वे प्रत्यक्ष हमारे सामने हैं और यह दीख जाना ही परमात्मा का साक्षातकार करना है, परमप्रभु को पा लेना है।

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो! (इन्द्रः) परमेश्वर (वः) तुम्हें (सदा) सदैव (आचकृषत्) अपनी तरफ आकर्षित कर रहा है। (स) वह (नु) निःसन्देह (उप उ) समीप ही, समीपता के साथ (सपर्यन्) तुम्हारी सेवा करता हुआ है। (शूरः इन्द्रः देवः) वह महापराक्रमी इन्द्रदेव (न वृतः) ढका हुआ, आच्छादित नहीं है।

१३ वैशाख

जुहुरे वि चितयन्तो अनिमिषं नृम्णं पान्ति ।
आ दृढां पुरं विविशुः ॥

ऋ० .५ १६.२॥

विनय

एक नगरी है जो कि बिल्कुल दृढ़ है, अभेद्य है; इसमें पहुँच जाने पर किसी भी शत्रु का हम पर आक्रमण सफल नहीं हो सकता। क्या कोई उस स्थान पर पहुँचना चाहता है? वहाँ पहुँचने का मार्ग कुछ विकट है, कड़ा है, आसान नहीं है। वहां पहुँचने वालों को ज्ञानपूर्वक स्वार्थ-त्याग करते जाना होता है और सदा जागते हुए अपने "नृम्ण" की—आत्म-बल की—रक्षा करते रहना होता है, ये दो साधनाएँ साधनी होती हैं। कई लोग अपने कर्त्तव्य व उद्देश्य का बिना विचार किए यूं ही जोश में आकर 'आत्म-बलिदान' कर डालते हैं। ऐसा करना आसान है पर यह सच्चा बलिदान नहीं होता। इससे यथेष्ट फल नहीं मिलता इस पवित्र उद्देश्य के सामने अमुक वस्तु वास्तव में तुच्छ है इसलिए अब इस वस्तु को स्वाहा कर देना मेरा कर्तव्य है, इस प्रकार के स्पष्ट-ज्ञान के साथ, बिना किसी जोश के, जो आत्म-बलिदान होता है वही सच्चा आत्म-बलिदान होता है। नहीं तो हम तो बहुत वार आत्म-बलिदान के नाम से आत्म-

घात कर रहे होते हैं। वहाँ पहुँचने के लिए तो आत्मा का घात नहीं, किन्तु आत्मा की रक्षा करनी होती है। हम लोग प्रायः क्रोध करके, असत्य बोल कर, इन्द्रियों को स्वच्छन्द भोगों में दौड़ाकर अपना आत्म-तेज, आत्मवीर्य, आत्मबल खोते रहते हैं। पर वे पुरुष अपने इस 'नृम्ण' आत्मबल की बड़ी सावधानी से, सदा जागरूक रहते हुए, बड़ी चिन्ता से, रक्षा करते हैं। वे पल पल में अपनी मनोगति पर भी ध्यान रखते हुए देखते रहते हैं कि कहीं अन्दर कोई आत्मबल के क्षय करने वाला काम तो नहीं हो रहा है। एवं रक्षा किया हुआ आत्म-बल ही उस दृढ़ पुरी में पहुँचने वाला है। वास्तव में ये दोनों साधनाएँ एक ही हैं, यदि हम इनके इस सम्बन्ध पर विचार करें कि ऐसे लोग आत्मबल की रक्षा करने के लिए शेष हरेक वस्तु का बलिदान करने को उद्यत रहते हैं और ये सदा इतने सत्य के साथ आत्म-बलिदान करते जाते हैं कि उनके प्रत्येक आत्म-बलिदान का फल यह होता है कि उनका आत्म-बल बढ़ता है। आओ! हम भी आत्म-हवन करते हुए और आत्म-बल की रक्षा करते हुए चलने लगें और उस मार्ग के यात्री हो जायँ जो कि अभयता, अजात-शत्रुता, अमरता और अभेद्यता की दृढ़ पुरी में पहुँचनेवाला है।

शब्दार्थ—

जो (वि चितयन्तो जुहुरे) ज्ञान पूर्वक स्वार्थ त्याग करते हैं और (अनिमिषं नृम्णं पान्ति) लगातार जागते हुए, अपने आत्मबल की रक्षा करते हैं [ते] वे (दृष्टां पुरं) दृढ़ अभेद्य नगरी में (आविविशुः) प्रविष्ट हो जाते हैं।

*

* *

१४ वैशाख

कदु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते ।
तदिद्धि अस्य वर्धनम् ॥

सामo पूo ३.१.४.२.॥

विनय

प्रभु की थोड़ी सी भी भक्ति महान् फल को देने वाली होती है। हम लोग समझा करते हैं कि थोड़े से सन्ध्या-भजन से, एक आध मन्त्र द्वारा उसका स्मरण कर लेने से हमारा क्या लाभ होगा, या एक दिन यह भजन छोड़ देने से हमारी क्या हानि होगी। पर यह सत्य नहीं है। हमारी उपासना चाहे कितनी स्वल्प और तुच्छ होवे पर वह उपास्य देव तो महान् है। ज्ञान और शक्ति में वह हमसे इतना महान् है कि हम कभी भी उस के योग्य उसकी पूरी भक्ति नहीं कर सकते हैं। और उसके सामने हम इतने तुच्छ हैं कि वह यदि चाहे तो अपने ज़रा से दान से हमें क्षण में भरपूर कर सकता है। हम यदि थोड़ी देर के लिए भी उससे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं तो वह महान् देव उस थोड़े से समय में ही हमें भर देता है। सन्त लोग अनुभव करते हैं कि प्रभु का क्षण भर ध्यान करते ही प्रभु की आशीर्वाद-धारा उनके लिए खुल जाती है और वे उस क्षण भर में ही प्रभु के आशीर्वाद से नहा जाते हैं; एक बार प्रभु का नामोच्चारण करते ही उन्हें ऐसा आवेश आता है कि शरीर रोमाँचित होजाता है, मन और आत्मा आनन्दरससे पवित्र और प्रफुल्ल होजाते हैं। पर यदि

हम साधारण लोगों की प्रार्थना, उपासना अभी उस महाप्रभु से इतना ऐश्वर्य नहीं पा सकती है तब तो हमें उसके थोड़े से भी भजन की बहुत क़दर करनी चाहिए, एक भी दिन एक भी समय नागा न करनी चाहिये एक समय भी नागा होने से जो सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, वह फिर जोड़ना पड़ता है। यही कारण है कि नागा होने पर प्रायश्चित्त का विधान है। एवं एक समय नागा होने से एक समय की देरी नहीं होती, वह दुबारा सम्बन्ध जोड़ने जितनी देरी हो जाती है। अतः हम चाहे किसी दिन भजन में बिल्कुल दिल न लगा सकें, तथापि उस दिन भी कुछ न कुछ उपासना ज़रूर करनी चाहिए, यत्न जरूर करना चाहिए। पीछे पता लगता है कि एक दिन का भी यत्न व्यर्थ नहीं गया एक एक दिन की उपासना ने हमें बढ़ाया है—हमारे शरीर मन और आत्मा को उन्नत किया है।

कम से कम यह तो असन्दिग्ध है कि संसार की अन्य बातों में हम जितना समय देते हैं सांसारिक बातों की जितनी स्तुति उपासना करते हैं और उससे जितना फल हमें मिलता है, उससे अनन्तों गुना फल हमें प्रभु की (अपेक्षया बहुत ही थोड़ी सी) स्तुति उपासना से मिल सकता है और मिल जाता है। कारण स्पष्ट है, क्योंकि वह महान है, ज्ञान का भंडार है, सर्वशक्तिमान् है और ये सांसारिक बातें अल्प हैं, तुच्छ हैं, निस्सार हैं, ज्ञानशक्तिविहीन केवल विकार हैं।

शब्दार्थ—

(महे) महान् (प्रचेतसे) बड़े ज्ञानी (देवाय) इष्टदेव परमेश्वर के लिये (कत् उ) कुछ भी, थोड़ा सा भी (वचः शस्यते) वचन—स्तुति रूप में-कहा जाय (तत् इत् हि) वह हि निश्चय से (अस्य) इस वक्ता का (वर्धनं) बढ़ाने वाला है।

१५ वैशाख

आ घा गमत् यदि श्रयत् सहस्रिणीभिः ऊतिभि। वाजेभिः उप नो हवम् ॥

ऋ०. १. ३०. ८॥ साम० उ० १. २. ११ ॥अथर्व० २० २०. २६. २॥

विनय

वह आजाता है, निश्चय से आजाता है, हमारे पास आ प्रकट हो जाता है यदि वह सुन लेवे। बस, उसके सुन लेने की देर है। उस तक अपनी सुनाई करना, अपनी रसाई करना बेशक कठिन है। उस तक हमारी पुकार पहुँच जाय, इसके लिए हममें कुछ योग्यता चाहिए, हममें कुछ सामर्थ्य चाहिए। पर इस में कुछ सन्देह नहीं है कि वह परमात्मदेव यदि पुकार सुन लेवे, यदि हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर लेवे तो वह निश्चय से आ जाता है—और तब वह आता है अपनी सहस्रों प्रकार की रक्षा-शक्तियों के साथ। हमारी रक्षा के लिए मानों वह अपनी अनन्त महाशक्तिनी सेना के साथ आ पहुँचता है। हमारी रक्षा के लिए तो उसकी जरासी शक्ति ही बहुत होती है पर तब यह पता लग जाता है कि उसकी रक्षा-शक्ति असीम है। वह हमारे 'हव' पर—पुकार पर—अपने 'वाज' के साथ (अपने ज्ञान-बल के साथ) आ पहुँचता है। हम पीड़ितों की रक्षा कर जाता है। और हम अज्ञानान्धकार में ठोकरें

खाते हुओं के लिये ज्ञान-प्रकाश चमका जाता है, पर यदि वह सुन लेवे। कौन कहता है कि वह सुनता नहीं। बेशक, उसके हमारी तरह कान नहीं, पर वह परमात्मदेव बिना कान के सुनता है। यदि हमारीं प्रार्थना कल्याण की प्रार्थना होती है और वह सच्चे हृदय से—सर्वात्मभाव से—की गई होती है तो उस प्रार्थना में यह शक्ति होती है कि वह प्रभु के दरबार में पहुँच सकती है। आः ! हमारी प्रार्थना भी प्रभु के दरबार में पहुँच सके; हममें इतनी स्वार्थशून्यता, आत्म-त्याग और पवित्रता होवे कि हमारी पुकार उसके यहां तक पहुँच सके। यदि हमारी प्रार्थना में इतनी शक्ति हो, हम अन्धकार में पड़े हुए, दुःख-पीडितों, दुर्बलों के हार्दिक करुण-क्रन्दनों में इतना बल हो कि इन्द्रदेव उसे सुन लेवे तो क्या है ? तब तो क्षण भर में वे करुणासिन्धु हम डूबनों को बचाने के लिए आ पहुंचते हैं बस, हमारी प्रार्थना उन तक पहुंचे, हमारी पुकार में इतना बल हो, तो देखो, वे प्रभु अपने सब साज-सामान के साथ, अपने ज्ञान, बल और ऐश्वर्य के भण्डार के साथ, अपनी दिव्य विभूतियों की फौज के साथ हम मरतों को बचाने के लिए, हम निर्बलों में बल संचार करने के लिए, हम अन्धों को अपनी ज्योति से चकाचौंध करने के लिए आ पहुँचते हैं।

शब्दार्थ—

(यदि) यदि (नः हवं) हमारी पुकार (श्रवत्) वह इन्द्र सुन लेवे तो वह (सहस्रिणीभिः ऊतिभिः) अपनी सहस्रों बलशालिनी रक्षा-शक्तियों के साथ और (वाजेभिः) सहस्रों ज्ञानबलों के साथ (उप-आगमत् घ) निश्चय से आ पहुंचता है।

*

* *

१६ वैशाख

पवमानस्य ते वयं पवित्रं अभ्युन्दतः ।
सखित्वं आ वृणीमहे ॥

ऋ० ९.६१.४ ॥ साम० उ० २.१.५ ॥

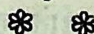
विनय

हे त्रिभुवन पावन ! तुम अपने स्पर्श से इस सब जगत् को पवित्रता दे रहे हो। यह सच है कि तुम्हारे बिना यह संसार बिल्कुल मलिन है। यह संसार तो स्वभावतः सदा मलिन ही होता रहता है, विकृत होता रहता है, गन्दगियाँ पैदा करता रहता है। परन्तु तुम्हारी ही नाना प्रकार की पवित्र करनेवाली धाराएँ नाना प्रकार से इस संसार के सब क्षेत्रों से इन मलिनताओं को निरन्तर दूर करती रहती हैं। हे पवमान् ! हे सब जगत् को अपने अनवरत प्रवाह से पवित्र करने वाले ! जो मनुष्य तुम्हारे स्वरूप की इस पवित्रता को जानते हैं, वे अपने आपको भी (अपने हृदय को भी) पवित्र करने में लग जाते हैं, अपने अन्तःकरण से काम, क्रोध आदि विकारों को निकाल कर इसे बड़े यत्न से निर्मल बनाते हैं। जब यह पवित्र हो जाता है तो इस पवित्र अन्तःकरण में तुम्हारी सात्विक धाराएँ जो आनन्द-रस पहुँचाती हैं, हृदय को सदा सरस बनाये रहती हैं, उसका वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता। पवित्रान्तःकरण भक्त लोग ही उसका अनुभव करते हैं। जिनके हृदयों में द्वेष, क्रोध, जड़ता आदि का कूड़ा भरा हुआ है

उनके शुष्क हृदय, या जिन्होंने प्रेम शक्ति का दुरुपयोग कर विषैले रसों से हृदय को गंदा कर रखा है उनके मलिन हृदय, इस पवित्र आनन्द-रस का आह्लाद क्या जानें ? जब मनोविकारों का यह सूखा या गीला मैल निकल जाता है तभी मनुष्य के हृदय में तुम्हारे पवित्र रस का स्यन्दन होना प्रारम्भ होता है और उसमें फिर दिनों—दिन सात्विकरस भरता जाता है। भक्तिभाव के बढ़ाने से जब भक्तों के हृदय-मानस आनन्द के हिलोरें लेने लगते हैं, तो वे देखने योग्य होते हैं। हे सोम ! तब उनके पवित्र हृदय का तुम 'पवमान' के साथ सम्बन्ध जुड़ गया होता है। इस सम्बन्ध, इस सखित्व, इस एकता के कारण ही उन का हृदय सदा तुम्हारे भक्तिरस के चुआने वाला झरना बन जाता है। हे प्रभो ? यही सम्बन्ध, अपना यही सखित्व हमें प्रदान करो। हे सोम ! हम तुझसे इसी सखित्व की भिक्षा मांगते हैं। हे जगत् को पवित्र करने वाले ! जिस सख्य के हो जाने से तुम्हारा पवित्रकारक धारा मनुष्य के हृदय को सदा भक्ति-रस से रसमय बनाये रखती है, उसी सखित्व की भिक्षा हमें प्रदान करो। हम अपने हृदय को पवित्र करते हुए तुमसे यही सखित्व, यही मैत्रीभाव, यही प्रेम-सम्बन्ध प्राप्त करना चाहते हैं, वरना चाहते हैं। यह वर हमें प्रदान करो।

शब्दार्थ—

(पवित्रं अभि उन्दतः) हमारे पवित्र हुए अन्तःकरण को भक्तिरस से आर्द्र करते हुए (पवमानस्य ते) तुझ परम पावन के (सखित्व) सख्य को, मित्रभाव को (वयं) हम (आवृणीमहे) वरण करते हैं।

१७ वैशाख

अभ्रातृव्यो अना त्वं अनापि: इन्द्र जनुषा सनादसि।
युधेदापित्वमिच्छसे ॥

ऋ० ८. २१. १३॥ अ० २०.११४.१॥

विनय

हे परमेश्वर ! तुम्हारे लिए न कोई शत्रु है और न कोई बन्धु है। तुम जिस उच्च स्वरूप में रहते हो वहाँ शत्रुता और बन्धुता का कुछ अर्थ ही नहीं। और तुम्हारे लिए कोई नायक व नियन्ता कैसे हो सकता है ? तुम ही एक मात्र सब जगत् के नियन्ता हो, नेता हो। तुम जन्म से, स्वभाव से ही ऐसे हो। 'जनुषा' का यह मतलब नहीं कि तुम्हारा कभी जन्म होता है। तुम तो सनातन हो, सनातन रूप से ऐसे शत्रुरहित और बन्धुरहित हो। पर सनातन होते हुए भी तुम हमारे बन्धुत्व (आपित्व) को चाहते हो। और इस बन्धुत्व को तुम युद्ध द्वारा चाहते हो, युद्ध द्वारा ही चाहते हो। अहा ! कैसा सुन्दर आयोजन है ! तुम चाहते हो कि संसार के सब प्राणी सांसारिक युद्ध कर करके ही एक दिन तुम्हारे बन्धु बन जायँ, तुम्हारे बन्धुत्व का साक्षात्कार करलें। सचमुच बिना लड़ाई के मिली सुलह, बिना संघर्ष के मिली प्रीति, बिना संग्राम के मिली मैत्री नीरस है, फीकी है, अवास्तविक है, उसका कुछ मूल्य नहीं है। बन्धुता तो अबन्धुता की, लड़ाई की, सापेक्षता में ही अनुभूत की जा सकती है। इसलिए हे मेरे जगदीश्वर! मुझे अब समझ में आता है कि तुमने कल्याणस्वरूप होते हुए भी इस अपने जगत

में दुःख, दर्द, दारिद्र रोग, क्लेश आपत्ति, उलझन आदि को क्यों उत्पन्न होने दिया है और अब समझ में आता है कि तुमने इन कठिनाइयों को खड़ा करके प्राणियों के जीवन को निरन्तर युद्धमय, संघर्षमय, क्यों बनाया है। सचमुच, यह सब कुछ तुमने इसी लिये किया है कि हम इन बाधाओं को जीत कर, इन कठिनाइयों, उलझनों को पार करके तेरे बन्धुत्व के रसास्वादन के योग्य बन जायँ। तू तो अब भी हमारा बन्धु है, हममें से जो तेरे द्रोही कहे जाते हैं—जो नास्तिक हैं—उनका भी तू अब भी एक समान बन्धु है, (और असल में किसी का भी बन्धु या शत्रु नहीं है) तो तेरी उस बन्धुता का अनुभव—तुझे बन्धु रूप से पा लेने का परमानन्द—हमें तभी मिल सकता है, जब हम संसार के इस परम विकट युद्ध को विजय करके तेरे पास आ पहुँचें। तू चाहता है कि आज जो तुझ से बहुत दूर हैं, तेरा कट्टर द्वेषी है, वह युद्ध करके एक दिन तेरा उतना ही नजदीकी और उतना ही कट्टर बन्धु बन जाय। अतः अब मैं तेरे बन्धुत्व पाने के समर में ही कमर कसे खड़ा हुआ अपने को पाता हूँ, जितनी वार मरूँगा इसी समर की युद्ध भूमि में मरूँगा और अन्त में तेरे बन्धुत्व को पाकर ही दम लूँगा। यही तेरी इच्छा है, यही तेरी मुझसे प्रेममय इच्छा है।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (त्वं) तुम (जनुषा) जन्म से ही, स्वभाव से ही (अभ्रातृव्यः) शत्रु रहित (अनापिः) बन्धु रहित (अना) नियन्तृरहित (असि) हो, (सनात्) तुम सनातन हो, सनातन से ही ऐसे हो। पर तुम (युधा) युद्ध द्वारा (इत्) ही (आपित्वं) बन्धुत्व को (इच्छसे) चाहते हो।

१८ वैशाख

ये ते पवित्रमूर्मयो अभिक्षरन्ति धारया।
तेभि र्नः सोम मृडय ॥

ऋ० ९. ६१.५ ॥ सा० उ० २.१.५॥

विनय

मानसरोवर में कुछ न कुछ तरंगें सदा उठाही करती हैं। चारों तरफ होने वाली घटनाओं से मनुष्य का मानस-सर नाना प्रकार से क्षुब्ध होता रहता है। परन्तु हे सोम ! मैं अपने मानस को पवित्र बना रहा हूँ। इसलिए पवित्र बना रहा हूँ जिस कि इस में तेरी जगत्-व्यापक धारा से आई हुई तरंगें ही पैदा होवें और किसी प्रकार की क्षुद्र तरंगें न पैदा हों। हे सोम ! अपनी शीतल सुखदायिनी और ज्ञानामृतवर्षिणी धाराओं से तुमने इस जगत् को व्याप्त कर रखा है। इन्हीं द्वारा यह जगत् धारित हुआ हुआ है, नहीं तो इस जगत् का सब जीवन-रस न जाने कब का सूख चुका होता। मैं देखता हूँ कि तुम्हारी इस जीवनरसदायिनी दिव्य-धारा का मनुष्यों के पवित्र हुए अंतःकरणों के प्रति एक आकर्षण उत्पन्न हो जाया करता है। जैसे कि चन्द्रमा के (भौतिक सोम के) आकर्षण से समुद्र-जल में ज्वार-भाटा उत्पन्न होता रहता है, उसी तरह हे सच्चे सोम ! मनुष्य के पवित्र हुए मनः सरोवर में भी तेरी सोम-धारा के महान् आकर्षण से उच्च तरंगें उठने लगती हैं, ऊँचे ऊँचे व्यापक सनातन भावावेश (Emotions)

उठने लगते हैं। विश्वप्रेम, वीरता, अदम्य उत्साह, सर्वार्पणकर डालने की उमंग, दुःखित मात्र पर दया, इत्यादि ऐसे सनातन व्यापक भावावेश हैं जो कि तेरी जगत्-धारक महान् धारा के अनुकूल हैं। बस, पवित्र हुए अन्तःकरणों में तेरी महाशक्तिमती धारा के अनुसार ये ही तेरी ऊर्मियाँ, तेरी तरंगे, अभिक्षरित हुआ करती हैं। हे सोम ! मुझे अब इन्हीं सत्यमयी व्यापक तरंगों के मन में उठने से सुख मिलता है। वे राग द्वेष की हवा से उठने वाली क्षुद्र भावावेशों (Emotions) की तरंगे, वे मन को क्षुब्ध करने वाले एक पक्षीय ज्ञान से होने वाले छोटे छोटे अनुराग, मोह, शंका, भय, उत्कंठा, कामना आदि की तरगे, मुझे सुख नहीं देतीं, किन्तु क्लेश रूप दिखाई देती हैं। इसलिए, हे मेरे सोम मेरे मानस में उन्हीं तरंगों को उठाकर मुझे सुखी करो जो तरंगे पवित्र हृदयों में तुम्हारी धारा से उठती हैं। बस ये ही उच्च भावावेश, ये ही व्यापक सनातन महान् भावावेश, मेरे मानस में उठा करें—ये ही तरगें बार बार उठें, खूब उठें, खूब ऊँची ऊँची उठें—ऐसी ऊँची और महान् उठें, कि इन आनन्ददायक भावावेशों में उठता हुआ मैं तन्मग्न होकर तेरी ऊँचाई के संस्पर्श का सुख अनुभव कर सकूँ।

शब्दार्थ—

(ते ये ऊर्मयः) तेरी जो तरंगें (धारया) जगत् के धारण करने वाली तेरी जगत् व्यापक ज्ञानधारा द्वारा (पवित्रं अभिक्षरन्ति) मनुष्य के पवित्र हुए अन्तःकरण में प्रकट होती हैं, उठती हैं (सोम) हे सोम ! (तेभिः) उन तरंगों से (नः मृडय) हमें आनन्दित कर दो।

*

* *

१६ वैशाख

यद् वीडाविन्द्र यत् स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम्।
वसु स्पार्हं तदाभर ॥

ऋ० ८.४५.४१ ॥ साम० उ० ४. १. ९ ॥ अ० २०.४३. २ ॥

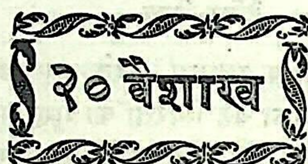
विनय

हे परम परमैश्वर्य वाले इन्द्र ! तुम्हारा नाना प्रकार का ऐश्वर्य इस संसार में भरा पड़ा है। पर तुम्हारे इन ऐश्वर्यों में से जिस प्रकार के ऐश्वर्य की मुझे स्पृहा है, जिस प्रकार के ऐश्वर्य को मैं चाहता हूँ वह तो वह है जो कि संसार के वीर, दृढ़ (वीडु) पुरुषों में दिखाई देता है और जो कि स्थिर तथा विमर्शशील पुरुषों में रहता है। आम लोग रुपये पैसे को ऐश्वर्य समझते हैं पर असल में वह ऐश्वर्य नहीं है। रुपये, पैसे तथा अन्य संपत्ति के पदार्थों का ऐश्वर्य होना या न होना मनुष्य पर आश्रित है, मनुष्य की शक्ति पर आश्रित है, अतः मनुष्य तथा मनुष्य का सामर्थ्य ही वास्तविक धन (ऐश्वर्य) है। गीता में जो 'अभय', 'सत्वसंशुद्धि' आदि सद्गुणों को दिव्यसंपत्ति कहा है वह सत्य है, वही सच्ची संपदा है। शम दम तितिक्षा आदि छः गुण इसीलिए 'षट् संपत्ति' नाम से जगत् में प्रसिद्ध हैं। हे इन्द्र ! मुझे तो यह ही सच्ची संपत् चाहिए। संसार के रुपये पैसे के धनिकों को देख कर मुझे ज़रा भी उनकी सी अवस्था के प्रति आकर्षण नहीं होता। परन्तु वीरों की वीरता, अदम्य उत्साह, तेज और दृढ़ता पर मैं मोहित हूं। जो चिरकाल

तक स्थिरता से श्रद्धापूर्वक साधना करते हुए अन्त में अवश्य विजयशील होते हैं, उनका यह स्थिरता का गुण मुझे उनका भक्त बना लेता है। और जब मैं उन पुरुषों को देखता हूं जो कि विचारपूर्वक सब कार्य करते हैं, पेंचीदी अवस्था आने पर भी जिन्हें अपना कर्तव्य का निर्णय करने में जरा देर नहीं लगती, तो मैं यही चाहता हूं कि यह विमर्शक्षमता मुझ में भी आ जाय। जिनके पास ये तीन गुण नहीं होते उनके पास तो रुपया पैसा भी नहीं ठहरता, यदि ठहरता भी है तो या तो वह शक्तिरूप नहीं होता या बुरी शक्ति बन जाता है। क्या हम रोज़ नहीं देखते कि बुज़दिली के कारण, अस्थिरता के कारण, नासमझी के कारण सब कमाया हुआ बड़ा भारी धन एक दिन में बरबाद हो जाता है या होता हुआ भी बेकार साबित होता है। इसलिए मेरे पास तो यदि भूमि, घर, आदि कुछ सामान न हो, कपड़ा लत्ता भी न हो, एक कौड़ी तक न हो, पर यदि मुझ में वीरता, अजेय दृढ़ता हो और लगातार देर तक सतत काम करने की शक्ति एवं लगन हो तथा मुझ में विचारशीलता हो, तो मैं हे प्रभो! अपने को महाधनी समझूँगा और संसार में आत्माभिमान के साथ सिर ऊँचा करके फिरूँगा। इसलिए हे नाथ! मुझे तो तुम दृढ़ता, स्थिरता, और विमर्शशीलता प्रदान करना; मैं यही माँगता हूं, आपसे यही ऐश्वर्य पाना चाहता हूँ।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (यत्) जो धन तूने (वीडौ) दृढ़, न दबने वाले पुरुष में (यत् स्थिरे) जो धन स्थिर रहने वाले में (यत् पर्शाने) और जो धन विचारशील पुरुष में (पराभृतं) रखा है (तत्) वह (स्पार्हं) स्पृहणीय, चाहने लायक (वसु) धन (आभर) मुझे प्राप्त करा।



२० वैशाख

यदग्ने स्यामहं त्वं, त्वं वा घा स्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥

ऋ० ८.४४.२३ ॥

विनय

हे नारायण ! तुम्हारी मंगल-कामना प्राणीमात्र के लिए अनवरत हो रही है। तुम्हारे आशीर्वाद प्रत्येक जीव के लिए—अपने प्रत्येक पुत्र के लिए—एक समान बरस रहे हैं। फिर भी जो ये आशीर्वाद हमें लगते नहीं हैं, हम पर अपना असर नहीं करते हैं, इसका कारण यह है कि हम ही अपने आपको इनसे वंचित रख रहे हैं। स्वार्थ, अहंकार, अस्मिता से हमने अपने आपको ऐसा बाँध लिया है, ऐसा लपेट लिया है कि हम तुम्हारे वास्तव में परम निकट होते हुए भी तुमसे इतने दूर होगये हैं कि हम पर तुम्हारी आशीर्वाद-वर्षा का कुछ भी असर नहीं होता। हे मेरे प्यारे ! प्रकाशमय देव ! हममें दूरी करने वाला, हमें जुदा रखने वाला, यह आवरण अब नहीं सहा जाता। अब तो यह फर्दा फट जाय, यह आवरण हट जाय और मैं तू हो जाऊँ या तू मैं हो जाय, तो मुझ पर बरसाए गए जीवनभर के तेरे सब आशीर्वाद एक क्षण में सफल हो जायँ, तथा जीवनभर में तुम्हारे प्रति की गई मेरी सब प्रार्थनाएँ एक पल में पूरी हो जायँ। हे प्रभु ! वह दिन कब आएगा, जबकि मैं तेरे ध्यान में मग्न होकर अपने आपको खो दूँगा और दूसरी तरफ तुम अपने परम प्यारे पुत्र को अपनी गोद में आश्रय देदोगे; जबकि मेरा आत्मा अपने

परम आत्मा को पा जाएगा और दूसरे शब्दों में तुम परमात्मा अपने एक चिरवियुक्त अंग को फिर अंगीकार करलोगे, जबकि मेरी आत्मा-अग्नि तुम्हारी बृहत्-अग्नि में जाकर 'मैं' को नष्ट कर देगी अथवा जबकि तुम्हारे द्वारा मेरे स्वीकृत होजाने से "तुम" जाता रहेगा। तब मेरी कोई प्रार्थना न रहेगी क्योंकि तब मेरा कोई स्वार्थ व कामना न रहेगी और इसलिए तब तुम्हारा कोई आशीर्वाद भी बाकी न रहेगा। उस मंगल मिलन में तुम्हारे सब आशीर्वाद मूर्तिमन्त, सत्य, सफल हो जायँगे। जीवन भर में जो जो मैंने तुमसे भक्तिमय प्रार्थनायें की है और उनके उत्तर में, उनकी स्वीकृति में, तुमसे मैंने जो नाना आशीर्वाद पाए हैं, वे सबके सब आशीर्वाद आखिर इसी महान् मंगलमिलन के लिए थे। मेरी सब प्राथनाओं की एक इच्छा, और तुम्हारे मेरे प्रति सब आशीर्वचनों की एक इच्छा, यह मिलन ही थी। तुम्हारी मेरे कल्याण की सब की सब कामनाएँ, सब आशीर्वाद, इस आत्मप्राप्ति में एक दम पूरे हो जाते हैं, क्योंकि यही मेरा सब से बड़ा कल्याण है, कल्याणों का कल्याण है, जिसमें सब कल्याण समा जाते हैं। अहो! वह मगल मिलन, वह महान् मंगल मिलन!

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप (यत् अहं त्वं स्याम) जब मैं तू होजाऊँ (वा घ) या (त्व अहं स्याः) तू मैं हो जाय तो (ते इह आशिषः) तेरे इस संसार के वे सब आशीर्वाद (सत्याःस्यु) सत्य, सफल हो जायँ।

*

* *

२१ वैशाख

विनय

अभि प्र गोपतिं गिरा, इन्द्रमर्च यथाविदे ।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥

ऋ० ८.६९.४ ॥ साम० पू० २. २.८.४ ॥ अ० २०९२. १ ॥

हे मनुष्य ! यदि तू यथार्थ सत्यज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो तू इन्द्र की शरण में जा। ये इन्द्रियाँ—प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन समझी जानेवाली ये इन्द्रियाँ—तुझे परिमित ज्ञान ही देंगी तथा बहुत बार बड़ा भ्रामक ज्ञान उत्पन्न करेंगी, मन इन्द्रिय भी तुझे दूर तक नहीं पहुँचायगी; और तेरे रागद्वेष पूर्ण मलिन मन की तर्कना शक्ति केवल कुतर्क में लगेगी। बाहिर से मिलने वाला ज्ञान अर्थात् विद्वानों के उपदेश और तत्वज्ञानियों के ग्रन्थ अपनी अपनी दृष्टि से कहे व लिखे जाने के करण तुझे अभी कुछ शान्ति न दे सकेंगे, बहुत सम्भव है कि ये तुझे और उलझन में डाल देंगे। अतः तुझे शान्ति दे सकने वाला सच्चा यथार्थ ज्ञान अपने अन्दर से, अपनी आत्मा से ही मिलेगा ! इसे तू अपनी आत्मा में खोज, उस अपनी आत्मा में खोज जोकि इन सब इन्द्रियों का स्वामी है, जिसने अपनी शक्ति प्रदान करके मन आदि इन्द्रियों को अपना साधन बना रखा है, जो कि सत्य ज्ञान-स्वरूप है, जो कि परम सत्यस्वरूप परमात्मा का पुत्र है, और जो कि अतएव स्वभावतः सदा सत्य का पालक है। हे मनुष्य ! तू इस सत्यदेव

की पूजा कर, आराधना कर, पूरे यत्न से इसे प्रसन्न कर तो तुझे सत्य मिल जायगा। वाणी शक्ति द्वारा तू इसकी अपरोक्ष पूजा कर। इस सत्यमय देवी की आराधना करने के लिए तुझे सत्य-मय वाणी की साधनी करनी पड़ेगी। बोलने में, व्यवहार में, हर एक अभिव्यक्ति में पूरी तरह सत्य का पालन करना होगा; अन्दर की मनोमय वाणी में भी सर्वथा सत्य के ही चिन्तन, मनन की विकट तपस्या करनी होगी। अन्दर घुसने पर ही तुझे पता लगेगा कि परिपूर्ण वाणी द्वारा सत्य की आराधना करना कितना कठिन है। पर साथ ही यह भी सच है कि जब तू यह साधना पूरी कर लेगा तो तेरा 'सत्य मनु' 'सत्यपति' आत्मा प्रकट हो जायगा और अपना अमूल्य भण्डार, सब सत्य ज्ञान के रत्नों का भण्डार तेरे लिये खोल देगा। तब तुझे कोई उलझन न रहेगी, तेरा निर्मल मन ठीक ही तर्क करेगा, तेरी इन्द्रियां भी अधिक स्पष्ट देखेंगी, पर सबसे बड़ी बात तो यह है तब तुझे वह सत्यमयी, 'ऋतंभरा' बुद्धि मिल जायगी जिस द्वारा कि तू जब जिस विषय का यथार्थ ज्ञान पाना चाहेगा वह सब तुझे प्रकाशित हो जाया करेगा। सत्य का पालन करने वाला सत्पति आत्मा स्वयमेव तेरे लिए सदा सत्य की रक्षा करता रहेगा। वाणी द्वारा सत्य की साधना करने का यह स्वाभाविक फल है। हे मनुष्य! तू इस सत्य इन्द्र की आराधना कर, अपरोक्ष रूप से पूरी तरह आराधना कर।

शब्दार्थ—

हे मनुष्य! (यथाविदे) यथार्थ ज्ञान पाने के लिए तू (गोपति) इन्द्रियों के स्वामी (इन्द्रं) आत्मा का (गिरा) वाणी द्वारा (अभि प्र-अर्च) अपरोक्ष और पूरी तरह पूजन कर, जो कि आत्मा (सत्यस्य सूनुं) सत्य का पुत्र है और (सत्पतिं) सदा सत् का पालक है।

२२ वैशाख

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमीधे विवस्वभिः ॥

ऋ० ८.१०२.१२ ॥ साम० पू० १.१.२.९ ॥

विनय

मैं जो प्रतिदिन आग जलाकर अग्निहोत्र करता हूं उससे क्या हुआ, यदि इस अग्नि-दीपन से मेरे अन्दर की आत्म-ज्योति न जग सकी। यदि मेरे प्रतिदिन अग्निहोत्र करते रहने पर भी मेरे जीवन में कुछ भेद न आया, मेरा व्यवहार आचरण वैसा का वैसा रहा, न मुझ में सद्बुद्धि ही जागृत हुई और न मैं सत्कर्मों में प्रेरित हुआ, तो मेरा यह सब अग्निचर्या करना व्यर्थ है। सचमुच हरेक बाह्य-यज्ञ अन्दर के यज्ञ के लिए है। बाहिर की अग्नि इसीलिए प्रदीप्त की जाती है कि उस द्वारा एक दिन अन्दर की आत्माग्नि प्रदीप्त हो जाय। यह आत्माग्नि मन द्वारा प्रदीप्त की जाती है। इसीलिए कहा गया है कि बाहिर की द्रव्यमय-यज्ञ की अपेक्षा अन्दर का मानसिक-यज्ञ हज़ार गुणा श्रेष्ठ होता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह मन द्वारा अपनी आन्तर-अग्नि को जलावे, आत्मग्नि को प्रदीप्त करे और इस प्रकार "धी" को, सद्बुद्धि को, प्राप्त कर ले तथा

सत्यकर्म में प्रेरित होता हुआ आत्मकल्याण को पा जावे। जो मनुष्य मनन करते हैं अर्थात् आत्मनिरीक्षण, आत्म-चिन्तन विचार और भावना करते हैं, जाप करते हैं तथा ध्यान, धारण, समाधि करते हैं, वे सब मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा आत्म-ज्योति को जगा लेते हैं और उन्हें सत्यबुद्धि, ज्ञानप्रकाश, सदा ठीक कर्म में ही प्रवृत्त कराने वाली समझ मिल जाती है। अतः आज से मैं भी इस अग्नि को प्रदीप्त करूँगा, विवस्वतों द्वारा—तमोनिवारक ज्ञानकिरणों द्वारा—इस अग्नि को प्रज्वलित करना प्रारम्भ करूँगा। जैसे सूर्य किरणों द्वारा ही संसार की सब प्रकार की ज्योतियाँ प्रदीप्त और प्रकाशित होती हैं, वैसे उस ज्ञान-सूर्य सविता परम आत्मा की किरणों द्वारा ही मैं अपनी आत्माग्नि को प्रदीप्त करूँगा। सत्यज्ञान देने वाले सब वेदादि ग्रन्थ, सत्य का उपदेश देने वाले सब गुरु, आचार्य, मेरे अन्दर मन की सब सात्विक वृत्तियाँ ये सब उसी ज्ञान-सूर्य की भिन्न भिन्न क्षेत्रों में फैली हुई किरणें हैं, विवस्वत् हैं। मैं इन द्वारा आज से अपनी आत्माग्नि को प्रतिदिन प्रदीप्त करता जाऊँगा। यही मेरे उद्धार का सीधा, साफ़ और चौड़ा मार्ग है।

शब्दार्थ—

(मनसा) मन द्वारा (अग्निं) अग्नि को, आत्मा को (इन्धानः) प्रज्वलित करता हुआ (मर्त्यः) मनुष्य (धियं) सद्बुद्धि को और सत्कर्म को (सचेत) प्राप्त करे। मैं (विवस्वभिः) तम को हटाने वाली ज्ञान किरणों द्वारा (अग्निं) इस अग्नि को (ईधे) प्रदीप्त करता हूँ।

२३ वैशाख

आ ते वत्सो मनो यमत्, परमात् चित्सधस्थात् ।
अग्ने त्वां कामया गिरा ॥

ऋ० ८.११. ७ ॥ साम० पू. १ १.१.८ ॥

विनय

हे परमात्मन् ! तुम्हारा स्थान बहुत ऊँचा है। तुम्हारे उत्कृष्ट पद को मैं कैसे पाऊँ ? तुम जिस दिव्य धाम में रहते हो, जिस सर्वशक्तिमय, सर्वज्ञानमय, परमानन्दमय लोक में तुम्हारा निवास है, उस परम स्थान तक मैं अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, तुच्छ जीव कैसे पहुँच सकता हूँ ? परन्तु नहीं, मैं भी आखिरकार तुम्हारा पुत्र हूँ, वत्स हूं, प्यारा अमृत आत्मज हूं। मैं चाहे कैसा हीन व पतित होऊँ पर स्वरूपतः अमर चिन्मय आत्मा हूँ। अतः तुम्हारा धाम मेरा भी धाम है, तुम्हारा ऊँचे से ऊँचा स्थान मेरा सहस्थान है, 'सधस्थ' है। तुम्हारे दिव्य से दिव्य स्थान से तुम्हारे पुत्र का अधिकार कैसे हट सकता है। मैं तुम्हें अपने प्रेम द्वारा तुम्हारे दूर से दूर, ऊँचे से ऊँचे पद से खींच लाऊँगा। हे पिता ! मुझे सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ

बनने की क्या जरूरत है ? मैं तो अपने अगाध प्रेम से, अपनी अनन्य भक्ति से तेरे मन को काबू कर लूँगा, तेरे मन को पा लूंगा। फिर मुझे और क्या चाहिए ? हे मेरे अग्ने ! हे मेरे जीवन ! मैं तुम्हें अपनी सर्वशक्ति से चाह रहा हूँ, कामना कर रहा हूं। आत्मा में तुमने जो वाणी नाम्नी आत्मशक्ति रखी है, मैं उस की सम्पूर्ण शक्ति से तुम्हें ही खींच रहा हूं। मैं अपनी आन्तर और बाह्यवाणी की समस्त शक्ति को तुम्हारे मिलन के लिये ही खर्च कर रहा हूँ। मन में तेरी ही चाह है, मन में तेरा ही जाप है, तेरी ही रटन है; "वैखरी" वाणी में भी तेरा ही नाम है, तेरा स्तोत्रपाठ है; शरीर की चेष्टाओं से भी जो कुछ अभिव्यक्त होता है वह तेरी लगन है, तेरे पाने की तड़प है। क्या तू अब भी न मिलेगा ? मैं तेरा वत्स इस तरह से, हे पितः तेरे मन को ही हर लूंगा। तू चाहे कितने ऊँचे स्थान का वासी हो, पर तेरे मन को जीत के छोडूंगा। मेरा प्रेम, मेरी भक्ति तेरे मन को खींच लेगी और फिर तेरे मन को, तेरे प्रेम व वात्सल्य को, मुझे अपनाना होगा।

शब्दार्थ—

(वत्सः) मैं वत्स (ते मनः) तेरे मन को (परमात् चित्) अतिउत्कृष्ट भी (सधस्तात्) सहस्थान से (आ यमत्) वश करता हूँ, प्राप्त करता हूं (अग्ने) हे परमेश्वर ! मैं (त्वां) तुझे (गिरा) वाणी द्वारा (कामये) चाहता हूँ—मिलना चाहता हूँ।

*

* *

२४ वैशाख

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय ।
त्वामवस्युराचके ॥

यजु० २१. १ ॥

विनय

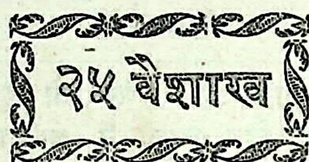
हे वरुण देव ! मैं कितने दिनों से तुम्हें पुकार रहा हूं। पुकारते पुकारते अब तो बहुत काल बीत गया है। मेरी पुकार की सुनवाई और कब होगी ? लोग मुझ पर हँसते हैं। मेरी तुम्हारे प्रति व्याकुलता को देखकर मेरा ठट्ठा करते हैं और मुझे पागल समझते हैं। परन्तु मैं तो तुम्हारी शरण में आ चुका हूँ एक मात्र तुमसे ही रक्षा पाने की आशा रखता हुआ निरन्तर प्रार्थना कर रहा हूं और करता चला जाऊँगा। तुम ही को मेरी लाज बचानी होगी। क्या मैं ऐसे ही पुकार मचाता रहूंगा और तुम अनसुनी करते जाओगे ? नहीं, तुम्हें मेरी पुकार सुननी होगी। हे सर्वश्रेष्ठ ! हे पापनिवारक ! हे मेरी परम आत्मन् ! तुम्हें मेरी यह पुकार जरूर सुननी होगी। तो, अब तो बहुत काल बीत चुका है, मेरा मन अपनी इस कामना को तुम्हारे आगे कब से धरे बैठा है, क्या इसकी स्वीकृति का समय

अब तक नहीं आया है ? अब तो हे नाथ! इसे पूरा कर दो, आज का दिन खाली न जाय। बहुत बार आशा बँधते-बँधते टूट चुकी है पर आज तो निराश न होना पड़े, आज तो इस चिरकांक्षित अभिलाषा को पूरा कर दो, चिरकाल के व्यथित व्याकुल हृदय को सुखी कर दो। यह हृदय तुम में अटल श्रद्धा रखे, तुम से कामना के अवश्यम्भावितया पूरा होने का विश्वास रखे, बड़े दिनों से तपस्या कर रहा है। बहुत सी निराशाओं के घावों से घायल हो चुका है, पर श्रद्धा नहीं छोड़ सकता। तो आज तो इसके दुर्दिनों का अन्त कर दो, इसकी शुभकांक्षा को मूर्तिमती कर दो जिससे इसकी घावों की सब व्यथा अब एक क्षण में मिट जाय। बस आज जरूर, आज जरूर। पुकार मचाते मचाते अब पर्याप्त दिन हो चुके, तुम्हारी शरण में पड़ा मैं बहुत चिल्ला चुका, अपने इस पागल का आज तो सुदिन कर ही दो और इसे अपनी गोद में उठा लो।

शब्दार्थ—

(वरुण) हे वरुण! (मे) मेरी (इमं) इस (हवं) पुकार को (श्रुधी) सुन लो। (अद्य च) आज तो मुझे (मृडय) सुखी कर दो (त्वां अवस्युः) मैं तुम्हारी शरण में आया हुआ, तुमसे रक्षा चाहता हुआ (आचके) प्रार्थना कर रहा हूँ।





शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे ।
यदहं गोपतिः स्याम् ॥

ऋ० ८.१४.२ ॥ साम० उ० ९.२.९ ॥ अ० २०.२७.२ ॥

विनय

हे शचीपते ! हे शक्ति के स्वामी ! तुम सर्वोत्कृष्ट ज्ञानमयी शक्ति के स्वामी हो; और परिपूर्ण होने के कारण इस अपनी शक्ति का जगत् के पालन पोषण में परिपूर्णतया ही सदुपयोग कर रहे हो। परन्तु मैं यद्यपि अपूर्ण जीव हूं, तो भी मुझे अपनी शक्ति का सदा पूरा सदुपयोग ही करने में यथाशक्ति तुम्हारा अनुकरण करना चाहिए। इसलिए मैं चाहता हूँ और संकल्प करता हूं कि यदि मैं "गोपति" होऊँ सच्चा वैश्य बनकर भूमि, गौ, धन का (वैश्यशक्ति का) स्वामी होऊँ तो मैं इसका सदुपयोग ही करूँगा। हे सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ! तुम मुझे ऐसी बुद्धि देना, ऐसी समझ और योग्यता देना कि मैं यह धन केवल संसार के "इस मनीषी पुरुष" के लिए ही देना चाहूँ और इसे ही दूँ; किसी अन्य को देने की मुझे कभी इच्छा तक न हो, कभी प्रलोभन तक न होवे। यह 'मनीषी' वह पुरुष होता है जोकि अपने मन का ईश है, जो कभी क्षण भर के लिए भी मन का गुलाम नहीं होता है, जो जितेन्द्रिय है, जिसे अपने पर पूरा काबू है। ऐसे ही पुरुष को दिया हुआ धन सदुपयुक्त होता है, हजारों गुणा फल लाता है, सर्वलोक का हित करता है।

हमारे धन के एक मात्र अधिकारी, ये आत्मवशी पुरुष ही हैं। वास्तव में हमारा सब धन, इन संयमी महानुभावों का ही है। परन्तु हे प्रभो! बहुत बार हम किन्हीं अपने तुच्छ स्वार्थों के कारण या केवल रिवाज के वशीभूत होकर या अपनी कमजोरी के कारण, अजितेन्द्रिय लोगों—भोगी विलासी 'सन्तों'—को दान दे देते हैं। ओह! यह तो तुम्हारी दी हुई धन शक्ति का घोर दुरुपयोग है, यह पाप है। यह दान नहीं है, यह या तो रिश्वत है या आत्मघात करना है। नहीं, यह सम्पूर्ण मनुष्य-समाज का व राष्ट्र का घात करना है, द्रोह करना है। जो मनीषी नहीं हैं उन्हें धन देने का विचार भी हमारे मन में नहीं आना चाहिए, देने की इच्छा (दित्सा) ही नहीं होनी चाहिए। जिसे अपने पर काबू नहीं उसके पास गया हुआ धन उस द्वारा सर्व-नाश का कारण होता है। इसलिए, हे शचीपते! इतनी शक्ति मुझे प्रदान करो कि मैं अनुचित दान के लिए स्पष्ट 'न' कर सकूँ, भोगियों को दिए जाने वाले दान में सम्मिलित न होने की हिम्मत कर सकूं। हे प्रभो! मैं तो उसी को दान दूँ जो कि अपने मन का ईश होने के कारण जनता के हृदयों का भी ईश हो और अतएव जिसके पास गया हुआ धन सब जनता के लिए हो—सर्व जनता के कल्याण में ही स्वभावतः ठीक ठीक उपयुक्त हो जाता हो।

शब्दार्थ—

(शचीपते) हे शक्ति के स्वामी! (यत् अहं) यदि मैं (गोपतिःस्याम्) धन भूमि आदि का स्वामी होऊं तो (मेरी मति ऐसी होवे कि] मैं (अस्मै मनीषिणे) इस मन के ईश, पूरे जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ही (दित्सेयं) इस धन-शक्ति को देना चाहूं और (शिक्षेयं) इसे ही दूँ।



दृते दृंह मा, ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम् ।
ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम् ॥

यजु० ३६. १९ ॥

विनय

हे जगदीश्वर ! मैं चाहता हूँ कि अब मैं तुम्हारी अध्यक्षता में ही जीऊँ—तुम्हारी देख में तुम्हारी आँखों के नीचे ही अपना जीवन व्यतीत करूँ। मुझे यह सदा स्मरण बना रहे कि तुम मुझे देख रहे हो। मेरा एक एक कार्य, मेरी एक एक चेष्टा, एक एक हरकत, तुम्हें साक्षी रखकर की गई हो। और इस तरह तुम्हारे सम्यक् दर्शन में—तुम्हें देखता हुआ—मैं चिरकाल तक जीऊँ। सच तो यह है कि जब मैं तुम्हारी ठीक ठीक अध्यक्षता में अपना जीवन व्यतीत करूंगा तो मेरा जीवन ऐसा स्वाभाविकतया चलेगा कि यह स्वयमेव दीर्घजीवी हो जायगा। अतः मैं तो इतना ही चाहता हूं कि मैं कभी तुम्हारे संदर्शन से जुदा न हो जाऊँ। परन्तु तुम्हारे संदर्शन में जीना आसान काम नहीं है। मैं यह जानता हूं कि तुम ही मेरे जीवन हो, मेरी शक्ति हो, मेरी आत्मा हो, तो भी मैं निर्बलतावश तुम्हें सदा भूला रहता हूं। सांसारिक वायु के झोंकों के थपेड़ों से मेरी सुधबुध ऐसी भूली रहती है कि मुझ में तुम्हारी स्मृति जागृत नहीं रह सकती। इसलिए हे जगदीश्वर ! मेरी तो तुमसे यह प्रार्थना है कि तुम मुझे पहिले दृढ़ बना दो, मजबूत बना दो, चट्टान बना दो। हे

दृते ! हे सर्वशक्तिस्वरूप ! तुम मुझे ऐसा दृढ़ बना दो कि संसार की घटनाएँ मुझे चलायमान न कर सकें। मैं सदा तुम्हें देखते रहने का यत्न करता हूँ—तुम्हें देखते रहते हुए ही अपने सब कर्म करने का यत्न करता हूं, पर यह बहुत थोड़ी देर चलता है। कोई भी सांसारिक ख़ुशी या कोई दुःख, कोई चिन्ता आने पर वह मेरा सात्विक ध्यान जाता रहता है। कोई भी नई सी बात होने पर मेरा ध्यान उधर खिंच जाता है और मैं उस तेरे संदर्शन की सुखमय अवस्था से गिर जाता हूं। इस लिए, हे दृते ! मैं दृढ़ता का भिखारी हुआ हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं जब दृढ़ हो जाऊँगा तथा उस दृढ़ता द्वारा सुख में दुःख में, संपत् में विपत् में सदा तुम्हारा संदर्शन करते रहने का अभ्यासी हो जाऊँगा तो धीरे धीरे तुम्हारा यह सम्यक् दर्शन मुझमें ऐसा समा जायगा कि फिर मुझसे जुदा न हो सकेगा। और तब मुझे तुम्हारे ध्यान करने की जरूरत न रहेगी। जैसे कि हम दिन भर सूर्य प्रकाश द्वारा ही सब काम करते हैं पर हमें यह याद रखने की आवश्यकता नहीं होती कि हम सूर्य प्रकाश में हैं, वैसे ही तब मैं बिना यत्न किये तुम्हारे संदर्शन के प्रकाश में चौबीसों घंटे रहने सहने और जीवन व्यतीत करने वाला हो जाऊँगा। अतः हे दृते ! मुझे ऐसा दृढ़ बना दो कि मैं कभी तुम्हारे संदर्शन से न हट सकूँ।

शब्दार्थ—

(दृते) हे समर्थ परमदृढ परमेश्वर ! (मा) मुझे (दृंह) दृढ बनादे, जिस से कि मैं (ते संदृशि) तेरे संदर्शन में, तेरी ठीक दृष्टि में (ज्योक्) चिरकाल तक (जीव्यासं) जीता रहूँ (ते संदृशि ज्योक जीव्यासं) सम्यक् दर्शन में दीर्घ आयु तक जीवित रहूँ।

२७ वैशाख

न घेम् अन्यत् आपपन वज्रिन् अपसो नविष्टौ।
तवेदु स्तोमं चिकेत॥

ऋ० ८.२.१७॥ साम० उ० १.२.३॥ अ० २०.१८.२॥

विनय

हे जगत् के ईश्वर! परममंगलकारी! मैं जो भी कोई नया कार्य शुरु करता हूँ, नया यज्ञक्रम, नया शुभकर्म प्रारम्भ करता हूँ तो वह सब तेरा ही नाम लेकर तेरे ही भरोसे तेरे ही बल पर शुरु करता हूँ। अपने हरेक कार्य का मगलाचरण मैं तेरे ही आगे झुककर, तेरी ही मानसिक वंदना क के, करता हूँ। हे वज्रवाले! मैं तेरे सिवाय किसी भी अन्य के आगे झुककर मंगल नहीं मना सकता। क्योंकि वह पाप से निवृत्त करने वाला वज्र तो तेरे ही हाथ में है—अनिष्टों, अमंगलों और विघ्नों का वास्तव में वर्जन कराने वाला वज्र तेरे ही हाथ में है। तो हे वज्रधारिन्! मैं किसी अन्य की स्तुति करके क्या पाऊँगा? जो कार्य सचमुच एक मात्र तुम्हारे ही आश्रय से किये जाते हैं और जो मनुष्य सचमुच अपना कर्म सर्वथा तुझे अर्पण करके करते हैं तो वहां पराजय, असफलता या असिद्धि नाम की कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। यह बात कइयों को जरा विचित्र सी लगेगी, किन्तु सर्वथा सत्य है। सचमुच तब सब मंगल ही मगल हो जाता है। यह सब तेरे वज्र का प्रताप है। जो लोग केवल तेरा ही आश्रय लेकर कार्य शुरु करते हैं, सर्वथा त्वदर्पित

होते हैं उनके पास निरन्तर जागता हुआ तेरा वज्र उनकी रक्षा करता है। अतः हे परम मंगलकारी वज्रिन्! इस संसार में तू ही एकमात्र स्तुति करने योग्य है। मैं तो तेरी ही स्तुति करना जानता हूं। यदि मैं किसी धनाढ्य पुरुष की स्तुति करूँ तो शायद वह मुझे मेरे कार्य के लिये धन देगा, किसी प्रभाव-शाली पुरुष की विनती करूँ तो शायद मेरे लिये उसका प्रभाव बड़ा सहायक हो जायगा; परन्तु हे जगत् के ईश्वर! मैं जानता हूँ कि यह सब तभी होगा जब कि तेरी ऐसी इच्छा होगी। संसार के सब प्राणी, सब अमीर-ग़रीब, छोटे-बड़े सब तेरे ही बनाए हुए पुतले हैं। संसार के बड़े से बड़े पुरुष भी तेरे ही आश्रय पर, तेरी ही इच्छा पर, जीवित हैं; तो मैं उन पुरुषों का आश्रय लेकर क्या करूँगा? जब तुझे अभीष्ट होता है कि किसी कार्य में धन, जन, बुद्धि आदि की सहायता मिले तो वह कहीं न कहीं से मिलती ही है। बल्कि हम देखते हैं कि धन, जन, मान आदि पाने के लिए जिन पुरुषों का हम भरोसा करते हैं, निरर्थक खुशामद करते हैं, वहां से हमें कुछ नहीं मिलता; किन्तु किसी दूसरी ही आशातीत जगह से वैसी सब सहायता मिल जाती है। अतः मैं तो अपने कार्यों के प्रारम्भ में किसी भी अन्य का भरोसा नहीं करता, मैं तो केवल तेरा ही पल्ला पकड़ना जानता हूँ, मैं तो तेरी स्तुति करना जानता हूँ।

शब्दार्थ—

(वज्रिन्) हे वज्रवाले! मैं (अपसः) कर्म के (नविष्टौ) प्रारम्भ में (अन्यत् घ ई) अन्य किसी को भी (न आपपन) नहीं स्तुति करता (तव इत् उ) तेरी ही (स्तोमं) स्तुति करना (चिकेत) जानता हूँ।



मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन्।
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः॥

ऋ० ८.४५.२३ ॥ साम० उ० १.२.७ ॥ अ० २०.२२.२ ॥

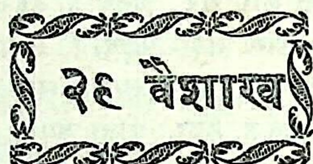
विनय

हे मेरे आत्मन् ! जब तू आत्मसुधार के लिए अग्रसर होता है, तो संसार की कई विरोधिनी शक्तियाँ तेरा मुक़ाबिला करती हैं, तुझे आगे बढ़ने से रोकना चाहती हैं। जब तू अपनी उन्नति के लिए सुधार के मार्ग का अवलम्बन करेगा तो कई अज्ञानी मूढ़ भाई उसे न समझने के कारण तेरा विरोध करेंगे, तेरी निन्दा करेंगे। जिन भाइयों के स्वार्थ में उस सुधार द्वारा धक्का लगेगा या धक्का लगने का काल्पनिक भय होगा वे 'अविष्यु' (अपनी पालना चाहने वाले) स्वार्थ-पीड़ित पुरुष तेरे मार्ग में बेशक रोड़े अटकावेंगे, चुगली करेंगे, भ्रम फैलावेंगे और तुझे नाना प्रकार के कष्ट देंगे। पर हे मेरे आत्मन् ! तू इनसे मत घबड़ाना, मत दबना, मत नष्ट होना। तू अन्त में इन सबको अवश्य जीत लेगा। तेरा तेज अदम्य है। इसी तरह तेरे निराले कार्यों को देखकर—जिन्हें आम जनता ने अभी तक नहीं अपनाया है ऐसे नए सुधार के कार्यों को तुझे आचरण में लाते देख कर—कुछ लोग तेरी खिल्ली उड़ायेंगे, तेरा उपहास करेंगे, हँसी हँसी में बड़े तीक्ष्ण व्यंग्य करेंगे। पर हे मेरे मन ! तू इनसे भी

कभी हतोत्साह मत होना, इनसे प्रभावित मत होना; अनुद्विग्न और प्रसन्न चित्त से इन सब को सह लेना। एक समय आवेगा जब कि ये अज्ञानी मूढ़ पुरुष भी सचाई को समझ जायँगे और ये ठट्ठा करने वाले लोग तेरे अनुयायी हो जायँगे। यह ठट्ठा उड़ाना तथा मूर्खों द्वारा पीड़ा पहुँचाए जाना इस संसार में सुधार के साथ, उन्नतिशीलता के साथ, सदा से होता आया है और होता रहेगा। कुतर्क, ठट्ठा, पीड़ा आदि क्रमों में से हरेक सुधार को और हरेक सुधारशील आत्मा को गुज़रना ही पड़ता है। अतः तू इनसे न दबता हुआ निर्भय होकर आगे ही बढ़ता जा, अपना काम करता जा। यदि तू इन्हें अभी पूरी तरह सहन नहीं कर सकता तो अच्छा है कि तू "ब्रह्मद्विष्" लोगों का—उन लोगों का जो ब्रह्म से (ज्ञान से या परमेश्वर से) प्रीति नहीं रखते, जो तेरे मार्ग से विपरीत मार्ग को पकड़े हुए हैं—उनका सेवन मत कर, उनकी संगति में मत रह; उनकी उपेक्षा कर, उन से यूँ ही बात मतकर, बिना प्रयोजन उनके संपर्क मत आ। ऐसा करने से तू अनावश्यक संघर्ष से बचेगा और तुझे अपने को दृढ़ करने का निर्बाध अवसर मिलेगा। दृढ़ हो जाने पर तो तू इन सबके मध्य में रहने वाला गुरु हो जाएगा।

शब्दार्थ—

[हे मेरे आत्मन्! हे मेरे मन!] (त्वा) तुझको (मूराः) मूढ़ (अविष्यवः) अपनी पालना चाहने वाले स्वार्थ-पीड़ित लोग (मा दभन्) मत नष्ट करें, मत दबा दें और (उपहस्वानः) उपहास करने ठट्ठा उड़ाने वाले लोग भी (मा) मत दबा दें। तू (ब्रह्मद्विषः) ज्ञान व परमेश्वर से प्रीति न रखने वाले मनुष्यों का (माकीं वनः) मत सेवन कर, मत संगति कर।



इन्द्र इत् नो महोनां दाता वाजानां नृतुः ।
महाँ अभिज्ञु आयमत् ॥

सामा० उ० १.२. १ ॥ ऋ० ८. ९२. ३॥

विनय

इस संसार के जो तेजस्वी महापुरुष हज़ारों लाखों लोगों के नेता होकर बड़-बड़े काम कर रहे हैं, उनमें उस तेज और महाबल को उत्पन्न करने वाले इन्द्र परमेश्वर ही हैं। इस संसार में जो नाना आन्दोलन उठते और दबते रहते हैं, कभी कोई लहर चलती है कभी कोई तथा इन आन्दोलनों और लहरों में उस उस समय के सब मनुष्य बलात् खिचे चले जाते हैं, यह सब खेल खिलाने वाले और हमें नाच नचाने वाले भी इन्द्र ही हैं। ये इन्द्र हम सब को अपना थोड़ा या बहुत तेज और बल दे रहे हैं और उस द्वारा नाच नचा रहे हैं। आज जो हममें महातेजस्वी है, वह कभी कुछ दिनों में सर्वथा निस्तेज हो जाता है तथा एक तुच्छ पुरुष कुछ ही दिनों में यशस्विता के शिखर पर पहुँचा देखा जाता है। यह सब उसका खेल है। आओ, हम अपने तेज व बल का सब अभिमान त्याग कर, नम्र होकर

उस महान् की इन्द्र की शरण में पड़ जाँए। ज़रा देखो, वह इन्द्र कितना महान् है, जो कि अकेला हम अनन्तों जीवों को कठपुतली की तरह नचा रहा है, स्थावर, जंगम सभी असंख्य प्रकार की सृष्टि को हिला रहा है! वह महान् इन्द्र इस ब्रह्माण्ड को नचा रहा है तो इसका यह मतलब नहीं है कि उसकी इस सृष्टि में कुछ व्यवस्था नहीं है, मनमानी या अन्धाधुन्धी है। वह हमें नाच भी पूरी व्यवस्था के साथ, अटल सत्य नियमों के साथ नचा रहा है। इसका कारण यह है कि वह "अभिज्ञु" है, सब के अभिप्रायों को एक दम जानता है, सर्वान्तर्यामी है, इस सब ब्रह्माण्ड की वह आत्मा है। हम सब अनन्तों प्राणियों के हृदयों में आत्मा की आत्मा होकर, अन्तर्यामी होकर, वह अकेला ही बैठा हुआ अनन्त-जीवरूप अनन्त-चक्रों वाले इस महायन्त्र को चला रहा है। अहो, वह इन्द्र परमेश्वर कितना महान् है! कितना महान् है!!

शब्दार्थ—

(इन्द्रः इत्) इन्द्र ही (नः) हमें (महोनां, वाजानां दाता) तेजों और बलों का देने वाला तथा (नृतुः) नचाने वाला वह (महान्) महान् है और (अभिज्ञु) अभिप्राय को जानने वाला, अन्तर्यामी होता हुआ (आयमत्) इस जगत् को व्यवस्था में बांधे हुए है।

*

* *

३० वैशाख

इन्द्रो अङ्ग महद् भयम् अभीपत् अप चुच्यवत् ।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥

ऋ० २. ४१. १० ॥

विनय

हे प्यारे ! तू क्यों घबराता है ? तेरे सामने जो भय उपस्थित है उससे बहुत बड़े भय और बहुत भारी विपत्तियाँ मनुष्य पर आ सकती हैं और आती हैं। परन्तु हमारे परमेश्वर उन सब को क्षण में टाल सकते हैं और टाल देते हैं। उसके सामने, उसके मुकाबिले में आए हुए, महान् से महान् भय भी पल भर नहीं ठहर सकते हैं। हे प्यारे ! तू देख कि इस संसार में एक वह इन्द्र ही स्थिर वस्तु है, वही सत्य है, सनातन, अटल, अच्युत है, कभी नष्ट न होने वाला है। शेष सब कुछ—सभी कुछ क्षणभंगुर है, विनश्वर है, अशाश्वत है और चले जाने वाला है। यही एक महासत्य है जिसे कि सिखाने के लिए संसार में चौबीसों घंटों की घटनाएँ हो रही हैं। हे मनुष्य! तू इस महासत्य पर विश्वास कर और निर्भय हो जा। वास्तव में संसार के सब दुःख, क्लेश, भय, संकट टल जाने वाले हैं, नश्वर हैं; क्योंकि ये नश्वर वस्तुओं द्वारा और अज्ञान द्वारा बने हैं। संसार में जो अनश्वर है, अटल है वह तो परमेश्वर

ही है। इस समय चाहे तुझे यह भय ही भय चारों तरफ नज़र आता हो, पर उस अटल इन्द्र की शरण पकड़ने पर यह सब अभी जाता रहेगा जैसे कि सदा रहने वाले अटल सूर्य (इन्द्र) के सामने से नष्ट हो जाने वाले बादलों का भारी से भारी समूह जाता रहता है, छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह सदा सूर्य को घेरे नहीं रह सकता। अतः हे प्यारे! तू अब उस परमेश्वर की ही शरण पकड़, जोकि स्थिर है और "विचर्षणि" है—जोकि सदा रहने वाला है और इस सब जगत् को ठीक ठीक देखने वाला सर्वज्ञ है। यह समझ लेते ही तेरे सब भय मिट जायँगे। इन्द्र को स्थिर और विचर्षणि जान लेना ही उसकी शरण में आ जाना है। जिसने सचमुच उसे एक मात्र नित्य और सर्वज्ञ वस्तु करके देख लिया है वह उसे छोड़कर और कहाँ अपना आश्रय टिका सकता है और जिसने उसके इस रूप को देख लिया उसके सामने कौन सा भय ठहर सकता है? इसलिए, प्यारे! तू घबरा मत, तू उसकी शरण को पकड़। यह सामने आये हुए इस छोटे से छोटे भय को ही नहीं मिटा देगा, किन्तु एक दिन आयगा जबकि यह जगदीश्वर तुझसे संसार के सबसे भारी भय को, संसार-बंध के महान् भय को, बार बार जीने मरने के महा-भय को भी छुड़ाकर तुझे सदा के लिए अजर, अमर और अभय कर देगा।

शब्दार्थ—

(अङ्ग) हे प्यारे! (इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर तो (अभिपत्) सामने आये हुए (महद् भयं) बड़े भय को भी (अप चुच्यवत्) विनष्ट कर देता है। (स हि) वह ही निश्चय पूर्वक (स्थिरः) स्थिर है, अचल है, शाश्वत है और (विचर्षणिः) सब जगत् को ठीक ठीक देखने वाला है।

३१ वैशाख

इन्द्रश्च मृडयाति नो, न नः पश्चात् अघं नशत् ।
भद्रं भवाति न पुरः ॥

ऋ० २.४१. ११ ॥

विनय

भाइयों ! इसमें सन्देह नहीं है कि इन्द्र भगवान् तो हमें सदा सुख ही दे रहे हैं, निरन्तर हमारा कल्याण ही कर रहे हैं। फिर भी जो असुख हमारे सामने आता है, हमें दुःख देखना पड़ता है; उसका कारण यह है कि हमने अपने पीछे पाप को लगा रखा है और पाप का परिणाम दुःख होना अटल है, अनिवार्य है। यदि हमारे पीछे पाप न लगा हो तो हमारे सामने भद्र ही भद्र आता जावे। जब हम कोई पाप करते हैं तो समझते हैं कि वह वहीं ख़तम हो गया। हम समझते हैं कि दो घंटे पहिले किया हुआ हमारा पाप तभी दो घंटे हुए उसके कर्म के साथ ही समाप्त हो चुका, अब उसका हमसे कुछ सम्बन्ध नहीं। इस तरह हम पाप करके आगे चलते जाते हैं और चाहते हैं तथा आशा करते हैं कि आगे आगे हमारे लिए भद्र ही भद्र आता जावे। पर हमें मालूम रहना चाहिए कि हमारा किया हुआ पाप चाहे हमारी आंखों के सामने नहीं आ खड़ा होता हो पर वह नष्ट भी नहीं होता है। वह तो हमारे पीछे लग जाता है और तब तक हमारा पीछा नहीं छोड़ता है जबतक कि वह हमारे आगे अभद्र, अकल्याण व दुःख के रूप में आकर हमें फल नहीं भुगा

लेता। अतः याद रखिए कि हमें न दिखाई देता हुआ, हमारे पीछे रहता हुआ ही हमारा पाप एक दिन हमारे आगे अभद्र व क्लेश के रूप में आता है और अवश्य आता है, जैसे कि हमारा हरेक पुण्य भी पीछे रहता हुआ, दिखाई न देता हुआ एक दिन हमारे आगे भद्र के रूप में आता है। यह हमारी कितनी मूर्खता-भरी इच्छा है कि हम चाहते तो यह हैं कि हमारा सदा भला ही होवे, हमारे सामने सदा सुख, स्वास्थ्य, समृद्धि आदि ही आते जावें, पर साथ ही हम पाप करना भी नहीं छोड़ना चाहते! यह कैसे हो सकता है? हमारे पीछे तो हमारा नाश करता हुआ, हमारा पाप चल रहा होता है और हम मूर्खतापूर्ण आशा में यह प्रतीक्षा करते होते हैं कि हमारे सामने सुख आता होगा। यह असंभव है। अतः आओ, आज से हम कम से कम आगे के लिए पाप करना तो सर्वथा त्याग दें। यदि हम विशेष पुण्य नहीं कर सकते तो कम से कम इतना तो संकल्प करलें कि हम अब से एक भी पाप अपने से न होने देंगे। इतना करने से भी इन्द्र भगवान् की दया से हमारे शीघ्र ही सुदिन आ जायँगे, पाप का पीछे छूट जाने से भद्र के लिए मार्ग साफ़ हो जायगा। पर यदि हम इतना भी न कर सकें तब तो इन्द्रदेव की सुख व कल्याण की वर्षा में रहते हुए भी हमारे भाग्य में तो दुःख ही दुःख रहेगा।

शब्दार्थ—

(इन्द्रः) परमेश्वर (च) निश्चय से (नः) हमें (मृडयाति) सुख ही देते हैं। (नः) हमारे (पश्चात्) पीछे (अघं) पाप (न नशत्) न लगे तो (नः पुरः) हमारे सामने (भद्रं) भद्र, कल्याण ही (भवाति) होवे, होता रहे।

ध्यान रहे

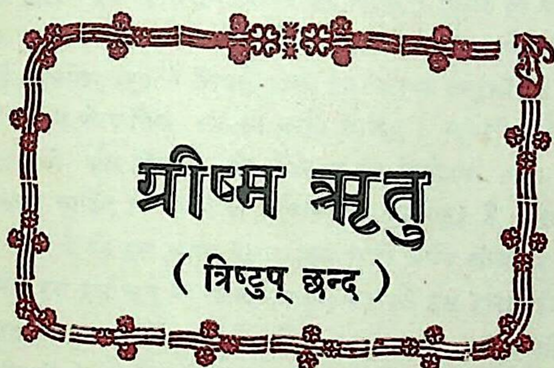
:*:

भस्मान्तꣳ शरीरम्

यजुर्वेद ४०-१५

यह शरीर एक
दिन राख में
मिल जाने
वाला
है !

* * *



ग्रीष्म ऋतु

(त्रिष्टुप् छन्द)

:
*

ग्रीष्म की ऋतु-चर्या

लक्षण—सर्दी और गर्मी को मिलाने वाली तथा गर्मी का प्रारम्भ करने वाली वसन्त-ऋतु के समाप्त हो जाने पर जिन महीनों में गर्मी अपने पूरे रूप में पड़ने लगती है, उस ऋतु का नाम ग्रीष्म-ऋतु है। साधारणतः ज्येष्ठ तथा आषाढ़ के महीने ग्रीष्म ऋतु के महीने कहलाते हैं। आषाढ में कुछ वर्षा का भी प्रारम्भ हो जाता है इसलिए कई वैशाख और ज्येष्ठ मास को ग्रीष्म ऋतु के महीने कहते हैं।

महिमा—इन दिनों सूर्य अपनी पूरी शक्ति से संसार को तपाता है। सूर्य का ताप, प्रकाश और प्राण ग्रीष्म-ऋतु में अधिक से अधिक प्राप्त होता है। इसलिए सूर्य से मिलने वाली इन अमूल्य वस्तुओं का हमें इस ऋतु में अधिक से अधिक उपयोग करना चाहिए। सूर्यरश्मियों के सहारे से अपने मलों और विकारों को निकाल कर निर्मलता और पवित्रता प्राप्त करनी चाहिए। यह काल आदानकाल कहलाता है। साधारणतः समझा जाता है कि इस समय हमारा बल शक्ति आदि क्षीण हो जाते हैं। परन्तु यदि हम इस ऋतु का ठीक उपयोग करें तो इस द्वारा हमारा कोई भी वास्तविक बल क्षीण न होगा, किन्तु आदित्यदेव की पवित्रताकारक शोधक किरणों के उपयोग से केवल हमारे मल, दोष और विकार ही क्षीण होंगे। सूर्य भगवान् हमारे शरीरों में से केवल मलों और दोषों का आदान करके हमें पवित्र करेंगे।

गुण—यह ऋतु रूक्ष, पदार्थों में तीक्ष्णता उत्पन्न करने वाली, पित्त-कारक तथा कफनाशक है। इसमें वात संचित होता है। इस ऋतु में मनुष्यों की जठराग्नि तथा बल क्षीण अवस्था में होते हैं। इस ऋतु में शरीर से पसीना आदि निकल करके शरीर की शुद्धि होती है।

पथ्यापथ्य—वसन्त ऋतु में बढ़ा हुआ कफ इस ऋतु में शान्त हो जाता है। अतः इस ऋतु में स्निग्ध, शीतवीर्य, मधुर तथा सुगमता से

हज़म होने वाले हलके पदार्थों का सेवन करना चाहिए। अर्थात् गेहूँ, मूंग, जौ, दलिया, सत्तू, लप्सी, श्रीखंड, दूध, सरदाई, रसीले फल आदि भोजनों का सेवन करना चाहिए। इसके विरुद्ध जो आर्द्रक, मिर्च आदि कटु भोजन, क्षार, लवण तथा खट्टे भोजन उष्ण-वीर्य होते हैं, उन्हें न्यून से न्यून मात्रा में ही उपयोग में लाना चाहिए।

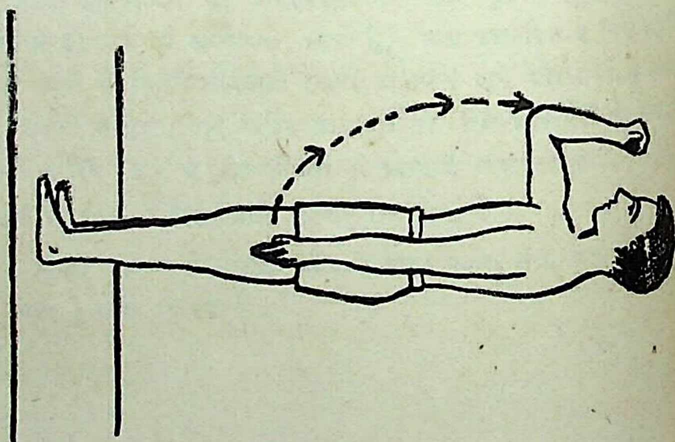
इस ऋतु में शरीर और वनस्पतियों में रूक्षता और लघुता अधिक बढ जाने से वात बढने लगता है पर काल के उष्ण होने से बहुत अधिक बढकर प्रकुपित नहीं होने पाता। यह आगे वर्षा-ऋतु में जाकर प्रकुपित होता है। अतः इस ऋतु में अधिक वातकारक भोजन खाना तथा गर्मी से तंग आकर बहुत शीतल पदार्थों का सेवन और शीत उपचार करना भी ठीक नहीं है। इससे वात-संचित होता है जो कि वर्षा में वात-व्याधियों को उत्पन्न करेगा।

दिन में सोना यदि किसी ऋतु में लाभकर हो सकता है तो वह यह ऋतु है।

इस ऋतु में गर्मी की अत्यधिकता से नक्सीर फूटना, लू लगना आदि रोगों के हो जाने की सम्भावना रहती है, अतः रक्त-पित्त व पित्त प्रकृति वाले पुरुषों को विशेष सावधानी रखनी चाहिए। धूप और गर्मी से अपने को बचाना चाहिए। यदि बाहिर जाना हो तो सिर और पैरों को ढककर जाना चाहिए। इस ऋतु में परिश्रम की व्यायामें न करनी चाहिएँ प्रत्युत हलकी व्यायामें या तैरना आदि करना ठीक होता है!

हिन्दी कहावत के अनुसार ज्येष्ठ में सफ़र करना तथा आषाढ में बेल (बिल्व) खाना निषिद्ध है।

ज्येष्ठ मास



ज्येष्ठ (वृष)

के लिए

प्राणदायक व्यायाम

कंधों, भुजाओं और फेफड़ों में स्वस्थता तथा नीरोगता लाने वाला

(१)

पूर्वनिर्दिष्ट विधि के अनुसार खड़े हो जाइए। भुजाएँ फैला लीजिए। हथेलियाँ ऊपर की तरफ हों। मुट्ठी बांधने के बाद मांसपेशियों को तान लीजिए। अब हाथों को कोहनी पर से मोड़ते हुए सिर की तरफ धीमे धीमे लाइए जिससे कि अंगुलियों के जोड़ कंधों को छू जांय। दोनों हाथों को फिर धीमे धीमे वापिस ले आइए। ध्यान रखिए कि इस बीच में सारे शरीर की मांसपेशियां तनी रहें। जब हाथ कंधे की तरफ ले आरहे हों तो पूर्णश्वास अन्दर भरिए और हाथों को वापिस सीधा करते समय श्वास को धीमे धीमे बाहिर निकालिए। अब शरीर को ढीला छोड़ दीजिए और इस तरह व्यायाम कई बार कीजिए।

(२)

इस मास के लिए व्यायाम का दूसरा प्रकार निम्न है--

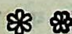
पूर्वनिर्दिष्ट विधि के अनुसार खड़े हो जाइए। दोनों हाथ नीचे की तरफ सीधे लटके हों। मांसपेशियों को तान लीजिए। अब दाहिना हाथ कोहनी से मोड़ते हुए ऊपर की तरफ ले जाइए। जब कोहनी कन्धे के साथ सम-रेखा में आ जाए तब ठहरिए। फिर हाथों को पूर्वस्थिति में वापिस ले आइए। इस बीच शरीर की मांशपेशियां तनी रहनी चाहिएं। इसके बाद यही व्यायाम बाँयें हाथ से कीजिए। ऊपर की ओर हाथों को गति देते समय श्वास को अन्दर भरिए ताकि जब हाथ कंधे तक पहुंच जांए तब फेफड़े श्वास से पूरे भर चुके हों हाथों को वापिस नींचे की ओर लाते समय श्वास को धीमे धीमे बाहिर निकालिए। अब शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दीजिए और इस व्यायाम को कई बार कीजिए।

इस व्यायाम में अपना मन कंधों, भुजाओं और फेफडों पर एकाग्र कीजिए और उन्हें पूर्ण स्वस्थ रूप में अपने सामने चित्रित कीजिए।

ध्यान—इस व्यायाम से मेरे फेफड़ों की श्वासधारिणी शक्ति बढ़ रही है। मेरे फेफडे दिनों दिन मजबूत हो रहे हैं। इस व्यायाम से मैं स्वस्थ हो रहा हूं और वास्तविक लाभ प्राप्त कर रहा हूं।

इन अंगों को गौणतया भाद्रपद, मार्गशीर्ष और फाल्गुन की व्यायाम द्वारा भी लाभ पहुंचता है।







कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।



कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः, सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितः, तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥

अथर्व० १९.५३.१ ॥

विनय

कालरूपी महाबली घोड़ा चल रहा है। यह सब संसार को खींचे लिए जा रहा है। इस विश्व के सब प्रकार के जगतों में सात तत्त्व काम कर रहे हैं (सब जगतों में सात लोक, सात भूमिएँ हैं, सप्त प्रकार की सृष्टि है और प्रत्येक प्राणी में भी सात प्राण, सात ज्ञान, और सात धातु हैं) ये ही सातरस्सियाँ (रश्मियाँ) हैं जिनसे कि यह विश्व उस कालरूपी घोड़े से जुड़ा हुआ है। काल की महाशक्ति से जुड़कर इस ब्रह्माण्ड के सब भुवन, सब लोक, सब मनुष्य, सब प्राणी, सब उत्पन्न वस्तुएँ चक्र की तरह

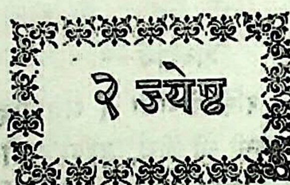
घूम रही हैं। इन असंख्य भुवनों के उत्पन्न चर या अचर पदार्थों के, असंख्यात अक्षों को (व्यक्ति केन्द्रों को) गति देता हुआ, यह महाशक्ति काल अपने इन भुवन-चक्रों द्वारा इस समस्त विश्व को चला रहा है। इस तरह यह संसार न जाने कबसे चलाया जा रहा है! हम परम तुच्छ मनुष्यों का क्या कहना, असंख्यों वर्षों की आयु वाले बहुत से सौर-मडल भी जीर्ण होकर सदा से इस अनन्तकाल में लीन होते गये हैं। परन्तु कभी जीर्ण न होता हुआ यह कालदेव आज भी अपनी उसी और उतनी ही शक्ति से इस विश्व-ब्रह्माण्ड को खींचे लिए जा रहा है। इस कालदेव को मेरे कोटि प्रणाम हैं। भाइयो! क्या तुम्हें यह कभी जीर्ण न होने वाला, सब विश्व को चलाने वाला महावीर्य दीख रहा है? पर याद रखो कि इस महा वेगवान अश्व को सवारी वे ही ले सकते हैं जो कि ज्ञानी हैं—जोकि समय को पहचानते हैं, जिन की दृष्टि इस सबको हिलानेवाले अनन्त कालदेव के दर्शन पाकर विशाल हो गई है, अतएव जोकि क्रान्तदर्शी हैं, जोकि विशाल भूत और भविष्य को दूर तक देख रहे हैं। जो अज्ञानी या अति चंचल मनुष्य, स्थिर ज्ञान-प्रकाश को न पाकर क्षुद्र दृष्टिवाले और काल के महत्व को न पहिचाने वाले हैं वे तो कालरथ पर नहीं चढ़ सकते हैं और न चढ़ सकने के कारण वे या तो कुचले जाते हैं या कुछ दूर तक घिसटते जाकर कहीं इधर उधर दूर जा पड़ते हैं और मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं या इसके नीचे यूँ ही पड़े रहकर नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए काल नाम मृत्यु का हो गया है। परन्तु वास्त में काल तो वह महाशक्तिवाला, महावेगवाला यान है, जिस पर कि सवार होकर हम बड़ी जल्दी अपना मार्ग तय करके लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं। अतः आओ, हम आज स

काल के असवार बनें, अपने पल पल, क्षण का सदा सदुपयोग करें, इस महा-शक्ति को कभी भी गँवावें नहीं और काल को इस विशालता को देखते हुए सदा ऊँची और विशाल दृष्टि से ही समय के अनुसार अपना कर्तव्य निश्चय किया करें। काल-अश्व के सवार के ये ही लक्षण हैं। यदि हम ऐसे अश्वरोही न बन जायँगे तो हम कभी भी अपना अभीष्ट न पा सकेंगे; काल हमें घसीटता, पटकता और मारता ही रहेगा।

शब्दार्थ—

(सप्तरश्मि:) सात रस्सियोंवाला (सहस्राक्ष:) हज़ारों धुरों को चलाने वाला (अजर:) कभी भी जीर्ण, बुड्ढा न होने वाला (भूरिरेता:) महाबली (काल: अश्व:) समय रूपी घोड़ा। (वहति) चल रहा है—संसार-रथ को खींच रहा है (विश्वा भुवनानि) सब उत्पन्न वस्तुएँ, सब भुवन (तस्य) उसके (चक्रा:) चक्र हैं—उस द्वारा चक्रवत् घूम रहे हैं। (तं) उस घोड़े पर (विपश्चित:) ज्ञानी और (कवय:) क्रान्तदर्शी लोग ही (आरोहन्ति) असवार होते हैं।





२ ज्येष्ठ

**त्वां जना ममसत्येषु इन्द्र, सन्तस्थाना वि ह्वयन्ते समीके।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्, ना सुन्वता सख्यं वष्टि शूरः॥**

ऋ० १०.४२.४ ॥ अथर्व० २०.८९.४ ॥

विनय

हे परमेश्वर ! केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं किन्तु साहित्यिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में मनुष्य दो पक्षों में विभक्त हुए परस्पर संघर्ष कर रहे हैं। और मजेदार बात यह है कि इन कलहों, युद्धों में दोनों पक्षवाले तुम्हारे पवित्र नाम की दुहाई दे रहे हैं। प्रत्येक कहता है कि "हमारा पक्ष सच्चा है अतः परमेश्वर हमारे साथ है, विजय हमारी निश्चित है।" परन्तु हे मनुष्यों ! सत्य के साथ ऐसे खिलवाड़ मत करो। ज़रा अपने अन्दर, घुसकर, अन्तर्मुख होकर, अपनी

सच्ची अवस्था को देखो। 'सत्य' 'परमेश्वर' आदि परम पवित्र शब्दों का यूँही हल्केपन से उच्चारण करना ठीक नहीं है। यह पाप है। गहराई में घुसकर, गहरे पानी में पैठकर, सत्य वस्तु को तत्परता के साथ खोजो और देखो कि वह सत्यस्वरूप इन्द्र सदा सच्चे (वास्तविक) सत्य का ही सहायक है। इस संसार में जो लोग हाथ में "हविः" लिए खड़े हैं, आत्म-बलिदान चढ़ाने को उद्यत हैं, अपना सिर हथेली पर रखे फिरते हैं, उन त्यागी पुरुषों को ही वे परमेश्वर अपना साथी बनाते हैं, उन्हीं के वे सहायक होते हैं। क्योंकि यह ही सच्चे होने की सच्ची पहिचान है। जिसको वास्तव में सत्य से प्रेम है वह तो उस सत्य के लिए सिर पर कफन बाँध लेता है। सत्य का सच्चा पुजारी तो भंगुर शरीर का क्या, संसार भर की अन्य सब असत्य, असार वस्तुओं की बलि चढ़ा करके भी सत्य की रक्षा करता है। अतः उसे ही उस शूर, महापराक्रमी, सर्व-शक्तिमान् इन्द्र की मित्रता (सख्य) और सहायता प्राप्त होती है। यदि उस शूर की मित्रता चाहते हो तो 'हविष्मान्' होओ और सवन करने वाले होओ। जो 'असुन्वत' है, जोकि यज्ञ के लिये उद्योग करता हुआ सोम का सवन नहीं करता—कठोर परिश्रम करता हुआ सारवस्तु का, सत्य का, तत्व का निष्पादन नहीं करता—ऐसे पुरुष के साथ वे इन्द्र कभी मित्रता नहीं करना चाहते। अतः हे भाइयो! ढोंग करना छोड़ दो, बिना जाने और बिना तह में घुसे यूँही 'सत्य,' 'परमेश्वर' आदि का नाम का पुकारना छोड़ दो। सत्य कभी छिपेगा नहीं। जब तुम में सचाई होगी तो उसके लिये सब कुछ त्याग करने को अवश्य तैयार होगे और तुम में आगे आगे सत्य-रस को, तत्व-सार को, निकाल

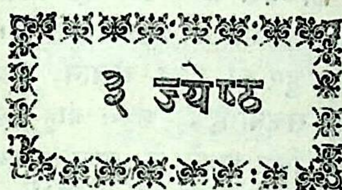
प्राप्त करने की उत्कट लगन भी होगी और तब तुम देखोगे कि तुम्हें वह परम सौभाग्य प्राप्त है, कि तुम शूर सर्वशक्तिमान् इन्द्र की मित्रता में हो, उसके 'युज्' साथी बने हुए हो।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (मम सत्येषु) 'मेरा पक्ष सच्चा है, मेरा पक्ष सच्चा है' ऐसे अपने झगड़ों में, स्पर्द्धाओं में (जनाः) मनुष्य (त्वां) तुझे (वि ह्वयन्ते) विविध प्रकार से पुकारते हैं। एवं (समीके) युद्ध में, संग्राम में (संतस्थानाः) स्थित हुए, अड़े हुए मनुष्य भी तुझे अपने अपने पक्ष में पुकारते हैं। परन्तु (अत्र) इस संसार में, हे मनुष्यों ! (यो हविष्मान्) जो मनुष्य बलिदान के लिये तैयार है उसे ही वह इन्द्र (युजं कृणुते) अपना साथी बनाता है (शूरः) वह महापराक्रमी इन्द्र (असुन्वता) यज्ञ के लिये सवन न करने वाले अनुद्यमी पुरुष के साथ (सख्यं न वष्टि) कभी मित्रता नहीं चाहता है।

*

* *



३ ज्येष्ठ

ॐ नो लोकं अनुनेषि विद्वान्, स्वर्वत् ज्योतिरभयं स्वस्ति ।
ऋष्वातइन्द्र स्थविरस्य बाहू, उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता ॥

ऋ० ६.४७.८ ॥ अथर्व० १९.१५.४ ॥

विनय

हे परम ईश्वर ! हे सब कुछ जानने वाले ! तुम हमें ज्ञान देकर कभी अपने विस्तीर्ण, खुले, अपार लोक में पहुँचा देते हो—उस लोक में जहां कि आनन्द ही आनन्द है और ऐसा आनन्द है कि उसकी प्रतिक्रिया में दुःख, सताप का जन्म नहीं हो सकता; उस ज्योतिर्मय लोक में, जहां प्रकाश का साम्राज्य है और जहां विस्तीर्ण शुभ्र प्रकाश-सागर में अज्ञान व अन्धकार की छाया तक नहीं पड़ सकती; उस लोक में जहां परिपूर्ण अखण्ड अभयता है, इन भय के भूतों का जिन से कि हम यहां हरदम सताये रहते हैं, जहाँ नामोनिशान नहीं है; और उस लोक में जहां कि कल्याण ही कल्याण बरसता है, अकल्याण की जहां कल्पना तक नहीं हो सकती है। हे इन्द्र ! तुम ऐसे लोक के वासी हो, हम मनुष्यों को—जीवों को—वहां ले जा

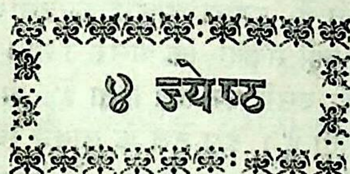
सकते हो। हे मेरे स्वामी! अपनी बाहुओं को फैला दो और अपनी महान् शरण में हमें ले लो। हे महान् देव! तुम्हारे ये बाहू सब पाप ताप का ध्वंस करने वाले हैं, क्लेश कष्ट का नाश करने वाले हैं, विघ्न बाधाओं को हटाने वाले हैं। इनकी महान् शरण का आश्रय पाए हुए को दुःख, अज्ञान, भय व अकल्याण का स्पर्श भी कैसे हो सकता है? अपने बाहू फैलाओ, करुणामय! हमें उठाने के लिए अपने ये वात्सल्यमय बाहू बढ़ाओ जिससे कि हम तुम्हारी परम शरण में आ बैठें, वह गोद जिसमें बैठ कर कोई क्लेश नहीं, भ्रम नहीं, भय नहीं, आमय नहीं।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे इन्द्र! (त्वं विद्वान्) तू सर्वज्ञ (नः उरं लोकं अनुनेषि) हमें उस महान् विस्तृत लोक में पहुंचा देता है जहां (स्वर्वत्) आनन्द (ज्योतिः) प्रकाश (अभयं) अभय और (स्वस्ति) कल्याण ही है। हे परमेश्वर! (ते स्थविरस्य बाहू) तुझ महान् देव के बाहू (ऋष्वा) सब विघ्न-बाधाओं को नाश करने वाले हैं (बृहन्ता शरणा) हम उस तुम्हारी [बाहुओं की] अपार शरण में (उपस्थेयाम) बैठ जायँ।

❀

❀ ❀



ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः, ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिराततर्द, कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥

ऋ० ४. २३. ८ ॥

विनय

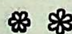
प्यारो ! सत्य के माहात्म्य को देखो ! सत्य में वे सनातन ऐश्वर्य व बल हैं, जिनसे शोक रुक जाता है । एक बार सत्यज्ञान होने पर संसार के सब शोक—घोर से घोर दुःख—खेल दीखने लगते हैं । अनादि काल से जो भी कोई शोक के पार हो गए हैं उन सब को किसी न किसी तरह सत्यज्ञान की ही प्राप्ति हुई थी । किसी भी वर्जनीय वस्तु से—पाप से—छुटकारा चाहते हो तो सत्य का सहारा लो । सत्य को धारण करते ही मनुष्य में और कोई बुराई नहीं ठहर सकती । जितने हद तक हम में सच की कमी होती है, उतनी ही मात्रा में हमारे अन्दर बुराई को रहने की जगह होती है । जो पूरा सच्चा है, उस में बुराई ठहर ही नहीं सकती । अतः केवल इतना आग्रह रखो कि हम सत्य का ही पालन करेंगे तो इससे हमारे अन्दर की सब वर्जनीय वस्तुएँ—

आख़िर ये वस्तुएँ पाप ही हैं और कुछ नहीं—स्वयं नष्ट हो जाएँगी।

और यदि हम सच्चे हैं तो हमारी बात प्रतिद्वन्दी को भी ज़रूर सुननी पड़ती है, हमारी सचाई का उस पर ज़रूर असर होता है। यह हो नहीं सकता कि असर न हो। सच्ची आवाज़ 'शुचमान' होती है, उसमें एक तेज होता है, अतएव यह जगाने वाली 'बुधानः' होती है। इस तेज के सामने स्वार्थी मनुष्य को (जो कि अपनी स्वार्थ-हानि के डर से सचाई को अनसुनी करना चाहता है) अपने कानों के द्वारों को खोलना पड़ता है। सचाई ऐसी जगाने वाली शक्ति होती है कि जो अज्ञान के कारण अभी तक समझ नहीं रहा है, उस में चेतना और जागृति पैदा कर देती है। सच्ची आवाज़ सीधी हृदय में जा पहुँचती है। जहाँ सत्य का सुनाई होना पहिले असंभव पता लगता है उसे भी अन्त में सत्य को मानना पड़ता है। सचमुच ही सचाई बहरे कानों को भी वेध कर घुस जाती है।

शब्दार्थ—

(ऋतस्य हि) सत्य की (शुरुधः) शोकनिवारक संपत्तियाँ (पूर्वीः सन्ति) सनातन हैं। (ऋतस्य धीतिः) सत्य का धारण करना (वृजिनानि) पापों का, वर्जनीय वस्तुओं का, (हन्ति) नाश कर देता है। (ऋतस्य) सत्य की (बुधानः) जगाने वाली और (शुचमानः) दीप्यमान (श्लोकः) आवाज़ (बधिरा) बहिरे (आयोः) मनुष्य के (कर्णा) कानों में भी (आततर्द) ज़बरदस्ती पहुँच जाती है।





५ ज्येष्ठ

पदं देवस्य नमसा व्यन्तः, श्रवस्यवः श्रव आपन् अमृक्तम्।
नामानि चित् दधिरे यज्ञियानि, भद्रायां ते रणयन्त सन्दृष्टौ ॥

ऋ० ६. १. ४ ॥

विनय

हे देव, हमने तुम्हारे पद के, तुम्हारे प्राप्तव्य-स्वरूप के, तुम्हारे चरणों के दर्शन पाए हैं। तुम्हें बार बार नमस्कार करते हुए, तुम्हारी स्तुति करते हुए, तुम्हारे आगे झुकते हुए, भक्तिभाव से आत्म-समर्पण करते हुए ही हमें ये तुम्हारे दुर्लभ पद के दर्शन मिले हैं। यह सब तुम्हारी भक्ति की महिमा है। इसके साथ ही मेरी पुरानी यश पाने की इच्छा भी तृप्त हो गई है। तुम्हारी कृपा से ऐसा यश मिला है जो कि मृदित नहीं हो सकता है। बाहिर के मनुष्यों से मिलने वाला यश तो उनके अधीन होता है, वह मृदित होता रहता है। पर तुम्हारे पद-दर्शन से जो मुझे अन्दर का यश मिला है वह अक्षय है, उसे पाकर अब मुझे किसी बाह्य यश की आकांक्षा नहीं रही है। तेरे सेवकों को संसार में सज्जन पुरुषों द्वारा भी बहुत सा यश मिला करता है, पर वह भी तुझ द्वारा मिले इस आन्तर-यश की ही छाया होती है। हे अग्निदेव! तेरी भक्ति ने मुझे उबार दिया है। तेरी भक्ति का तो इतना प्रताप है कि यदि कोई तेरे यज्ञा (यज्ञहं में उच्चारणीय) पवित्र पुण्य

नामों को ही केवल धारण करे; उन्हें वाणी से बोलता हुआ भक्ति से हृदय में गुंजाता रहे, तो इस नाम जपन नामधारण से ही उसका अन्तःकरण इतना शुद्ध होजायगा कि उस पर तुम्हारी कल्याणमयी दृष्टि हो जायगी। तुम्हारी कल्याणमयी दृष्टि में रहता हुआ वह सुख से आगे बढ़ता जायगा, उसके व्याधि,[१] स्त्यान आदि विघ्न हरण होते जायँगे, वह निर्विघ्न सुख से उन्नत होता जायगा।

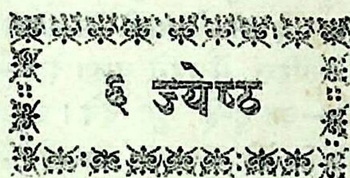
तो क्या, हे अग्ने! क्या हम तेरे पवित्र नामों को भी धारण न कर सकेंगे? यह तो कम से कम है जोकि हमें तुम्हारी तरफ पहुंचने के लिए करना चाहिए। हमें तो तुम्हारे प्रेम के मार्ग में अन्त तक जाना है और एक दिन यह कह सकने योग्य होना है "हमने तेरे पद के दर्शन पा लिए हैं और अनश्वर यश के भागी हो गये हैं।"

शब्दार्थ—

(श्रवस्यवः) यश की इच्छा वाले हमने (देवस्य) तुझ देव के (पदं) प्राप्तव्य स्वरूप को (नमसा व्यन्तः) नमस्कार द्वारा देखते हुए (अमृक्तम्) न मृदित होने वाले (श्रवः) यश को (आपन्) प्राप्त किया है जो लोग (यज्ञियानि) यज्ञाई (नामानि चित्) नामों को ही (दधिरे) धारण करते हैं वे भी (ते भद्रायां सन्दृष्टौ) तेरी कल्याणमयी दृष्टि में (रणयन्त) रहते हुए सुख पाते हैं।

*
* *

१—प्रणवजप से व्याधि स्त्यान आदि ९ विघ्न हट जाते हैं। देखो योग-दर्शन १—२९, ३०।



६ ज्येष्ठ

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां, सुहस्तो गोधुक् उत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नः, अभीद्धो घर्मस्तदुषु प्रवोचम्॥

ऋ० १.१६४.२६॥ अथर्व० ७.७३.७॥

विनय

ग्रीष्म-काल प्रचण्डता से तप रहा है, वर्षा के बिना सब वृक्ष वनस्पतियाँ भी सूखी जा रही हैं, इसलिए मैं इस मेघरूपी धेनु (माध्यमिक वाणी) को पुकार रहा हूं। यह आकाश में फिरती हुई खूब उदक दे सकनेवाली मेघ-धेनु (माध्यमिक वाणी) आवे और अन्तरिक्षनिवासी मध्यमदेव (इन्द्र) एक कुशल दोहने वाले की तरह, इसे दुह लेवे। ओह, यह सब परमात्मा की इच्छा के विना कैसे हो सकता है? भगवान् की प्रेरणा के विना तो संसार में एक भी हरकत नहीं हो सकती है। अतः मैं उनकी करुणा का भिक्षुक हूँ। उनकी करुणामय प्रेरणा से यह धेनु हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ रस को देवे, वर्षारूपी दूध पिला कर इस झुलसी हुई भूमि को तृप्त करदे। अरे! यह पृथिवीरूपी घर्म[1] तप रहा है, जला जा रहा है, इसलिए मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ। परितप्त व्याकुल संसार वर्षा की मांग मचा रहा है।

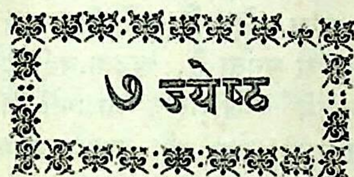
१—घर्म = यज्ञ का चूल्हा।

मैं बहुत तप तप चुका हूँ, बड़े बड़े क्लेश उठा चुका हूँ, अब ज्ञान-पिपासा ने मुझे बिल्कुल व्याकुल कर दिया है। इसलिए, हे खूब ज्ञानदुग्धामृत दे सकने वाली सरस्वती देवी रूपी धेनु ! तुम आओ, हृदयान्तरिक्ष में रहने वाला देव—जो कुशल दोहने वाला मनोदेव है—वह तुम्हें दुह देवे। उस सर्वान्तर्यामी प्रभु की ऐसी दया होवे कि मेरे लिए यह सरस्वती-धेनु अब तो उस ज्ञान-दुग्ध को दुह देवे जो कि संसार में सर्वोत्तम रस है। मुझे तप करते हुए बहुत काल हो गया है, गर्मी के बाद वर्षा आया ही करती है, तो अब तो मेरे लिए ज्ञानामृतपान करने का समय आगया होगा। मैं इसीलिए पुकार रहा हूँ, क्योंकि मुझ में ज्ञान-पिपासा की अग्नि प्रचण्डता से धधक रही है, इस समय ज्ञानामृत न मिला तो मैं जल जाऊँगा, ज्ञानामृत मिल गया तो मैं इस सब को इस समय हजम कर सकता हूं। मेरी ज्ञान-पिपासा का घर्म तुम्हें पुकार रहा है।

शब्दार्थ—

(एतां सुदुघां धेनुं) इस अच्छी दुही जाने वाली धेनु को मैं (उपह्वये) बुलाता हूँ (उत एनां सुहस्तः गोधुक् दोहत्) और अच्छा कुशल दोहने वाला इस धेनु को दुहे। (सविता नः श्रेष्ठं सवं साविषत्) प्रेरक परमात्मा इस श्रेष्ठ रस को हमारे लिए प्रेरित करे। (घर्मः अभीद्धः तत् उ सु प्रवोचम्) घर्म खूब तप रहा है इसीलिए यह उचित विनती कर रहा हूँ।





अप्रतीतो जयति सं धनानि, प्रतिजन्यानि उत या सजन्या ।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति, ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥

ऋ० ५. ५० ६ ॥

विनय

पीछे कदम न हटाने वाला मनुष्य ही विजय को प्राप्त करता है। ऐसा ही मनुष्य विजयी होकर ऐश्वर्यों को पाता है। प्रतिजन से सम्बन्ध रखने वाले वैयक्तिक ऐश्वर्य तथा जन-समूह से सम्बन्ध रखने वाले सामाजिक व राष्ट्रीय ऐश्वर्य उन्हीं जनों या जनसमूहों को प्राप्त होते हैं जिनमें कि चिरकाल तक लगातार उद्योग करते जाने की शक्ति होती है; जिनमें लगन, धैर्य होता है; जिन में अड़े रहने, डटे रहने का गुण होता है; जो कि कभी कदम पीछे हटाना नहीं जानते। जिनमें यह गुण नहीं है ऐसे व्यक्ति या राष्ट्र के लिए संसार में कोई ऐश्वर्य नहीं है। अतः हे व्यक्तियो ! तुम धैर्य को सीखो; हे राष्ट्रो ! तुम मिलकर अन्त तक डटे रहना सीखो।

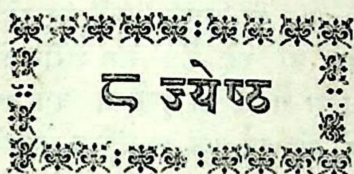
पर इसका दूसरा पार्श्व भी है। डटे रहना, अन्याय के विरुद्ध और न्याय के लिए ही चाहिए। परन्तु प्रायः दुनिया के सब सत्ताधारी मनुष्य स्वार्थवश हो अन्याय के लिए भी डटे रहते हैं। ऐसे डटे रहने वालों का तो—वे चाहे कितने ही बड़े

शक्तिशाली हों—विनाश ही होता है। जगत् के संचालक देव लोग तो उसी सत्ताधारी राजा की रक्षा करते हैं जो कि न्याय के लिए झुकने वाला होता है, जो कि सत्य उपदेश देने वाले की बात को नम्रता से सुनता है, अड़ता नहीं है, अतएव जो कि ऐसे संरक्षण चाहने वाले सच्चे ब्राह्मणों की सदा पूजा किया करता है। सत्ताधारी लोग यदि अपना कल्याण चाहते हैं तो उन्हें चाहिए कि वे दुनियावी कोई सत्ता न रखने वाले, सबका भला और रक्षण चाहने वाले, नम्र, ज्ञानी पुरुष उन्हें आकर जो कुछ सुझाएं उसे वे सत्कार-पूर्वक सुनें और उनकी शुभ सलाह को वे तुरत पूरा करें।

ज़रूरत इस बात की है कि निर्बल और पद-दलित लोग सत्य पर अड़ना सीखें और सत्ताधारी लोग नमना सीखें। और उससे भी अधिक ज़रूरत यह है कि प्रत्येक मनुष्य सदा देखे कि वह कहीं बलवान्, अन्यायी के सामने झुक तो नहीं जाता है, क़दम पीछे तो नहीं हटा लेता और असत्ताधारी सच्चे पुरुष के सामने अड़ा तो नहीं रहता।

शब्दार्थ—

(अ + प्रति + इतः) पीछे कदम न हटाने वाला ही (धनानि) ऐश्वर्यों को (सं जयति) जीतता है, वे ऐश्वर्य चाहे (प्रति-जन्यानि) वैयक्तिक होवें अथवा (या सजन्या) वे सामूहिक होवें। और (देवाः) देव (तं) उस सत्ताधारी राजा की (अवन्ति) रक्षा करते हैं (यः राजा) जो कि राजा (अवस्यवे) रक्षा चाहने वाले (ब्रह्मणे) सच्चे ब्राह्मणों की (वरिवः कृणोति) पूजा किया करता है, उनके आगे झुकता है।



मृत्योः पदं योपयन्तो यदैद, द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन, शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥

ऋ० १०.१८.२ ॥ अथर्व० १२.२.३० ॥

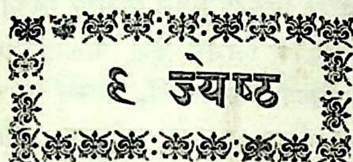
विनय

संसार के हरेक प्राणी पर मृत्यु ने पाँव रखा हुआ है। जिस दिन उसकी इच्छा होती है उस दिन वह उस पाँव को दबाकर प्राणी को कुचल डालता है, समाप्त कर देता है। पर, हे नरतन-धारी मनुष्यो! तुम में वह शक्ति है जिससे कि तुम मृत्यु के उस पैर को ढकेल कर अमर बन सकते हो। इस संसार में तुम मरे हुओं की तरह न रहकर, न सड़कर, अमर-पुत्रों की तरह दृढ़ता से चलो; शुद्ध, पूत और यज्ञिय बन जाओ। ऐसे बनने से तुममें वह आत्म-शक्ति जग जायगी कि तुम उस मृत्यु के पैर को ढकेल फेंकोगे। ठीक आहार, व्यायाम, तप आदि द्वारा शरीर को शुद्ध रखो, और अन्दर सत्वशुद्धि, सौमनस्य आदि लाकर अन्तःकरण को पवित्र रखो; और फिर इस शरीर और मन से यज्ञिय कर्म ही करते जाओ; इससे तुम निस्संदेह अमर निकल आओगे। यह सच है कि यज्ञिय जीवन से मृत्यु मारी जाती है, तब मनुष्य की आयु-सौ-वर्ष तक चलने वाला यज्ञ हो जाता है, तब वह मनुष्य पूर्ण सौ वर्ष

की दीर्घ विस्तृत आयु को यज्ञरूप में धारण करता है। हम मरे हुए मनुष्य तो आयु को 'धारण' नहीं कर रहे हैं किन्तु आयु के बोझ को जैसे तैसे ढो रहे हैं। जब शरीर को आत्मा धारे हुए होता है तो आत्मा शरीर को पूर्ण सौ वर्ष तक स्वस्थ चलने की—जीवन-यज्ञ को सौ वर्ष तक अखंडित चलने की—आज्ञा देता है। और इस जीवन में प्रजा को सृजने द्वारा तथा धन के बढ़ाने द्वारा अपनी विकास की इच्छा को परितृप्त करके यज्ञ को पूर्ण करता है। आत्मशक्ति का प्रकाश करने लिए ही आत्मा शरीर को धारण करता है। अतः शरीर पाकर इस जगत् में कुछ न कुछ उपयोगी वस्तु को प्रजनन करना, सृजन (Create) करना तथा जगत् के सच्चे ऐश्वर्य को (धन का) बढ़ा जाना आवश्यक है। संसार में आयी सब महान् आत्मायें इस संसार में कुछ न कुछ जगत् हितकारी वस्तु को सृजन करके तथा जगत् में किसी उच्च से उच्च ऐश्वर्य को बढ़ाकर जाती हैं। हे मनुष्यों! उठो, मृत्युमय जीवन छोड़ो, शुद्ध पूत और यज्ञिय बनो और मृत्यु के पैर को परे हटाकर अपने अमरत्व की घोषणा कर दो।

शब्दार्थ—

हे मनुष्यों! (यदा) जब तुम (मृत्योः पदं योपयन्तः) मृत्यु के पैर को ढकेलते हुए (एत) चलोगे, तो (द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः) तुम दीर्घ विस्तृत आयु को धारण करने वाले तथा (प्रजया धनेन आप्यायमानाः) प्रजा और धन से परितृप्त होवोगे। इसके लिए (शुद्धाः) बाहिर से शुद्ध (पूताः) अन्दर से पवित्र और (यज्ञियासः) यज्ञिय-जीवन वाले (भवत) हो जाओ।



६ ज्येष्ठ

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत् तत् विदुः त इमे समासते ॥

ऋ० १.१६४.३९ ॥ अथर्व० ९. १०.१८ ॥

विनय

हे मनुष्य ! तू वेद की ऋचाएँ पढ़कर क्या करेगा, यदि तूने सब ऋचाओं की एक आधारभूत वस्तु को नहीं जाना है? उसके बिना जाने वेद पढ़ना निष्फल है, समय खोना है। वेद उसे ही पढ़ने चाहिएँ जिसे कि वेदमंत्रों के एक प्रतिपाद्य विषय उस अक्षरतत्व को जानने की इच्छा है जोकि 'परमव्योम' है, एक परम आकाश है। वह इस प्रसिद्ध आकाश से भी उत्कृष्ट है, वह इतना आकाश है कि यह सब विविध ब्रह्माण्ड उसमें ओतप्रोत है। इसीलिए वह 'परमव्योम' कहाता है उसे ज्ञानी लाग 'ओं' इस अक्षर से भी पुकारते हैं। वह विविध प्रकार से सबकी रक्षा करने वाला (व्योम), अविनाशी (अक्षर) तत्व है। सब देवता, सब संसार, उस एक में समाया हुआ है। प्रत्येक वेदमंत्र किसी न किसी देवता की स्तुति करता है, परन्तु ये वेद प्रतिपाद्य सब के सब देवता उस ही एक देव में ठहरे हुए हैं। इसलिए यदि उस एक देव को जानने की, उसे पाने की इच्छा है, तभी वेदमंत्रों को पढ़ो। वेदमंत्रों को इसलिए

मत पढ़ो कि उनमें से किन्हीं अपने अभीष्ट विचारों को निकालेंगे या उनके ऐसे अर्थ करेंगे जिनसे कुछ भलाई सिद्ध होगी। वेद का ऐसा पढ़ना तो निष्फल ही नहीं, किन्तु पाप है। हमें वेद-मन्त्रों के पास इस पवित्र भाव से पहुँचना चाहिए कि ये हमें उस एक देव के पवित्र चरणों में पहुँचाने के साधन होंगे। प्रत्येक वेदमंत्र में हमें उस अक्षर प्रभु का प्रतिबिम्ब दिखाई देना चाहिए। इसलिए वे पुरुष जो उस तत्व को जानते हैं और जो यह जानते हैं कि सब ऋचाएँ उस अक्षर में हैं ऐसे ज्ञानी लोग समासीन हो जाते हैं, ठीक तरह स्थित हो जाते हैं; और यह अवस्था केवल ऐसे ही ज्ञानी लोगों को प्राप्त होती है। ऐसे ही ज्ञानी लोगों को शान्ति-प्राप्त होती है, सब संशयों से रहित स्वस्थता और आनद की एक अवस्था प्राप्त हो जाती है। वेद-मंत्रों के ध्यान से वे लोग समाहित (समाधिस्थ) हो जाते हैं, उस अक्षर में लीन होने का परमानन्द पाते हैं। वहाँ ऋचाओं का पढ़ना सफल हो जाता है।

शब्दार्थ—

(ऋचः) ऋचाएँ, वेदमन्त्र (अक्षरे) उस अक्षर अविनाशी (परमेव्योमन्) परम आकाश में आश्रित हैं (यस्मिन्) जिसमें (विश्वेदेवाः) सब के सब देव (अधि निषेदुः) ठहरे हुए हैं। इस लिए (यः) जो मनुष्य (तत्) उस अक्षर को (न वेद) नहीं जानता, वह (ऋचा) ऋचाएँ वेदमन्त्र पढ़ करके (किं करिष्यति) क्या करेगा और (ये) जो (तत् विदुः) उसे जानते हैं, (ते इत् इमे) वे ही ज्ञानी लोग (समासते) समासीन होते हैं—स्वस्थ, स्वरूपस्थ, आत्मानन्द में स्थित होते हैं।

१० ज्येष्ठ

न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या, न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा ।
पाक्या चित् वसवो धीर्या चिद्, युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम् ॥

ऋ० २.२७.११ ॥

विनय

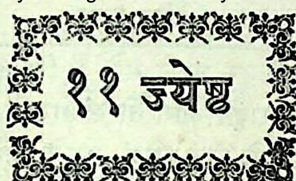
आजकल मैं एक अँधेरी रात्रि में घिरा हुआ हूँ। मेरे मानसिक नेत्रों के सामने एक ऐसा दुर्भेद्य काला पर्दा आ गया है जिसने कि मेरा सम्पूर्ण प्रकाश रोक लिया है। अपनी वर्तमान अध्यात्मिक समस्या को हल करने में ही मैं दिन-रात डूबा हुआ हूं; कहीं से भी कोई प्रकाश की किरण मिलती नहीं दीखती। चारों तरफ अन्धेरा ही अन्धेरा है—घोर गुप्प अन्धेरा है। दांयें बांयें कहीं कुछ नज़र नहीं आता, आगे या पीछे कहीं भी इस अन्धकारमय उलझन से बाहिर निकलने का रास्ता नहीं सूझता। क्या करूँ? यह भयकर रात्रि क्या कभी समाप्त भी होगी या नहीं? इस अन्धे जीवन से तो मरना भला है। खाता पीता, चलता फिरता हुआ भी मैं आज मुर्दा हूँ। चौबीसों घंटे विचारने में ग्रस्त हूं, पागल हुआ हुआ हूं, प्रकाश पाने के लिए निरन्तर घोर युद्ध में लगा हुआ हूं, पर इस काली रात्रि का कहीं अन्त होता नहीं दिखाई देता है। हे देवों! भगवान् के दिव्य-प्रकाश का संदेश लाने वाले, हे उसके 'आदित्य' नामक दूतो! मैं तुम्हें याद कर रहा हूं, तुम्हारी राह देख रहा हूँ।

तुम मुझे इस रात्रि से शीघ्र पार ले चलो, नहीं तो अब मेरा जीना कठिन हो रहा है सुना है कि बुद्ध, ईसा, दयानन्द आदि अनेक महात्मा अपना दिव्य-प्रकाश पाने से पहले ऐसी अन्धेरी रात्रियों में से गुज़रे थे। पर वे तो जन्म-जन्मान्तरों के पक्के हुए थे और बड़े धीर थे। मैं बिल्कुल कच्चा, अपरिपक्क ज्ञान वाला है और बड़ा दुर्बल, अधीर हूँ। मुझे इससे पार कौन ले जायगा ! किसी तरह होवे, हे वासक आदित्यों ! तुम मुझे भी बसा लो, अन्धकार से निकाल मुझे मरने से बचा लो। मैं चाहे जितना अज्ञानी, कच्चा और धैर्यरहित होऊँ, पर यदि तुम मुझे ले चलोगे—मेरे नायक बन जाओगे—तो मैं निस्संदेह अन्धकार को समाप्त कर प्रकाश को पा जाऊँगा। और तब इस महा-भय से पार हो जाऊँगा। मेरी यह भय की अवस्था उस ज्योति को पाकर ही मिटेगी, वह अभय ज्योति ! वह अभय ज्योति !!

शब्दार्थ—

(न दक्षिणा विचिकिते) न दायीं तरफ कुछ दिखाई देता है (न सव्या) और न बायीं तरफ (न) न तो (आदित्याः) हे आदित्य देवो ! (प्राचीनं) सामने ही कुछ दिखाई देता है (न उत पश्चा) और न कुछ पीछे। इसलिए (पाक्याचित्) मैं चाहे कितना अपरिपक्क कच्चा होऊँ और (धीर्याचित्) चाहे कितना धैर्यरहित दीन होऊँ (वसवः) हे वासक आदित्यो ! (युष्मानीतः) किसी तरह तुम्हारे द्वारा ले जाया गया मैं (अभयं ज्योतिः) भय-रहित प्रकाश को (अश्याम्) प्राप्त हो जाऊँ।

❀ ❀
❀



न तं विदाथ य इमा जजान, अन्यद् युष्माकं अन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥

ऋ० १०.८२.७ ॥ यजु० १७. ३१ ॥

विनय

हे मनुष्यो! तुम उसे नहीं जानते जिसने कि यह सब भुवन बनाये हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है! तुम्हारा वह पिता है, पर तुम अपने पिता से जुदा (अन्यत्) हो गये हो, तुम्हारा उससे बहुत फ़र्क पड़ गया है! ओह कितना भारी अन्तर हो गया है! मनुष्य का तो उसके प्रभु के साथ अन्तर नहीं होना चाहिए। यह प्रभु तो हम मनुष्यों की आत्मा की भी आत्मा है। उससे अधिक निकटतम वस्तु तो हम से और कोई है ही नहीं, हो ही नहीं सकती। सचमुच वे परम-आत्मा हमारी आत्मा में भी व्यापक हैं। उनसे निकट हमारे और कोई नहीं है। फिर वे हमसे दूर क्यों हैं? इसका कारण यह है कि हमारे और उनके बीच में प्रकृति का परदा आगया है। हम दो प्रकार के परदों से ढके हुए हैं, जिससे कि वह इतना निकटस्थ भी हमसे इतना दूर हो गया है। एक प्रकार के (तमोगुण-बहुल) लोग तो "नीहार" अज्ञान से ढके हुए हैं, जिसकी धुंध में इतने पास में भी उन्हें नहीं देख पाते; दूसरे (रजोगुण-बहुल) लोगों ने "जल्पि" से, विद्या के शब्दाडम्बर से, पढ़ी लिखी मूर्खता से, निरर्थक जल्पना के परदे से अपने आप को ढक लिया है। ये दोनों प्रकार के मनुष्य अपनी

अपनी दिशा में इतनी दूर बढ़ते गये हैं कि प्रभु से दिनों दिन दूर होते गए हैं। नीहारावृत लोग तो संसार में "असुतृप्" होकर विचर रहे हैं। वे खाते पीते मौज करते हुए निरन्तर अपने प्राणों के तर्पण करने में ही लगे हुए हैं। कामनाओं इच्छाओं का निवास मनुष्य के सूक्ष्म प्राण में ही है। ये ज्यों ज्यों अपनी बढ़ती जाती हुई अनगिनत कामनाओं को तृप्त कर अपनी इन कामनाओं को पुष्ट करते जाते हैं, त्यों त्यों ये प्रभु से दूर होते जाते हैं। इसी तरह दूसरे जल्पावृत लोग "उक्थशास्" होते हैं, अर्थात् संसार में बड़े बडे शास्त्र पढ़कर, वादविवाद वितण्डा में चतुर होकर, दूसरों को जोरदार व्याख्यान देते फिरते हैं, पर अपने आपको नहीं पहचानते। ये जितने भारी वक्ता, लेखक, और शास्त्रार्थकर्त्ता होते जाते हैं उतने ही ये बाह्य शब्द जाल में ऐसे उलझते जाते हैं कि अन्दर के देखने के अयोग्य होते जाते हैं, अतः अन्दर के आत्मस्थ प्रभु से दूर होते जाते हैं।

इसलिए आओ, हम लौटें। अपने अन्दर की तरफ लौटें और अपने उस आत्मा के आत्मा को पा लेवें जिसके साथ हमें निरन्तर जुड़ा रहना चाहिए।

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो! (त न विदाथ) तुम उसे नहीं जानते (य इमा जजान) जिसने कि इन सब [भुवनों] को बनाया है। (अन्यत्) तुम अन्य प्रकार के हो गए हो और (युष्माकं अन्तरं बभूव) तुम्हारा उससे बहुत फ़र्क हो गया है। (नीहारेण) अज्ञान के कोहरे से (प्रावृताः) ढके हुए और (जल्प्या च) अनृत और निरर्थक शब्दजाल से ढके हुए हम मनुष्य (असुतृपः) प्राणतृप्ति में लगे हुए होकर या (उक्थशासः) आडंबर वाले बहुभाषी होकर (चरन्ति) भटकते हैं।

१२ ज्येष्ठ

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं, प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः ।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान् ॥

ऋ० १०. ७३. ११ ॥ साम० पू० ४. १. ३. ७ ॥

विनय

हमारे शरीर में पाँच इन्द्रियाँ रहती हैं। ये पक्षियों की तरह बाहिर उड़ती फिरती हैं। ये ऋषि इन्द्रियाँ हैं, ज्ञान लाने वाली ज्ञानेन्द्रियां हैं। इन्हें अपने रूप रसादि विषयों से संगमन करना बड़ा प्रिय है। इनका उड़ना (पतन करना) बड़ा सुन्दर है। बाहिर से बड़े सुन्दर सुन्दर रूपों को, रसों को, गन्धों का ये कैसी विलक्षणता से ले आती हैं! इनमें क्या ही अद्भुत गुण है! आंख खोलो, तो सब विविध जगत् दीखने लगता है, आँख बन्द करने पर कुछ नहीं। आँख में क्या विलक्षण शक्ति है! इसी तरह कान को देखो, जीभ को देखो, इनमें क्या विचित्र जादू है कि हमारे लिए बड़े ही आनन्ददायक अनुभूतियों (Sensations) को पैदा करते हैं।

पर एक समय आता है जब ये इतनी अद्भुत इन्द्रियाँ हमारी ज्ञानपिपासा को तृप्त नहीं कर सकतीं। ये बाहिर से जो प्रकाश लाती हैं वह सब तुच्छ लगने लगता है। यह तब होता है जबकि छठी इन्द्रिय (मन) द्वारा अंदर के प्रकाश की तरफ हमारा ध्यान जाता है, प्रत्याहार शुरू होता है और इन्द्रियों का उड़ना बन्द हो जाता है। सब इन्द्रियाँ मन के प्रकाश के मुका-बिले में बैठकर अपने अन्धकार को अपनी परिमितता के

बन्धन को अनुभव करती हैं। ओह! इन्द्रियाँ कितना थोड़ा ज्ञान दे सकती हैं और वह ज्ञान भी कितना बँधा हुआ है! अन्दर बाहिर की थोड़ी सी बाधा से उनका ज्ञान-ग्रहण रुक जाता है। आँख अति दूर, अति समीप नहीं देख सकती, अतिसूक्ष्म को नहीं देख सकती, ओट में पार नहीं देख सकती। यह अन्धेरा और यह बन्धन तब अनुभव होता है जबकि मनुष्य को अन्दर के महान्, सब कुछ जान सकने वाले प्रकाश का पता लगता है। यह इन्द्र का, आत्मा का प्रकाश है। इस प्रकाश-पिपासा से व्याकुल होकर इन्द्रियाँ आत्मा से उस प्रकाश को पाने के लिए गिड़गिड़ाने लगती हैं, प्रार्थना करने लगती हैं कि "हमारे अँधकार का पर्दा उठा दो; हमारी आँखें प्रकाश से भर दो; हम अंधे हैं हमें आँखें देदो; हम अपने अपने ज़रा से क्षेत्र में बँधी पड़ी हैं, हमें देशकालाव्यवहित दर्शन की शक्ति दे दो; हमारे बधन काट दो, हम जिस देश और जिस काल में जिस वस्तु को देखना चाहें तुम्हारे इस प्रकाश में (प्रज्ञालोक* में) देख सकें।"

इन्द्रियाँ अपने शक्ति-स्रोत इन्द्र की शरण में न जावें तो और कहाँ जावें?

शब्दार्थ—

वे (सुपर्णाः) शोभनपतनशील (वयः) पक्षी (प्रियमेधाः) जिन्हें मेध [संगमन] प्रिय है और (ऋषयः) जो ज्ञान लाने वाले हैं (इन्द्रं) इन्द्र के पास (नाधमानाः) यह प्रार्थना करते हुए (उपसेदुः) आ बैठे हैं कि "(ध्वान्तं) हमारे अन्धकार को (अप ऊर्णुहि) निवारण करदो; (चक्षुः पूर्धि) हमारी आँखे भरदो या हमें आँखें देदो और हम जो (निधया इव) मानों पाशों से (बद्धान्) बँधे पड़े हैं (अस्मान्) हमें (मुमुग्धि) छुड़ादो।"

*तज्जयात् प्रज्ञालोकः। योगदर्शन ३-५।

१३ ज्येष्ठ

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवांसः तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

ऋ० १. ८९. ८ ॥ यजु० २५. ३१ ॥ साम० उ० ९.३. ९ ॥

विनय

मन, वाणी और इन्द्रियों के अगोचर भगवान तो हमें दीखते नहीं हैं। देवो! उनके हाथों के रूप में हम तुम्हें ही देख पाते हैं। वे भगवान् तुम्हारे द्वारा ही इस सब ब्रह्माण्ड को चला रहे हैं। इसलिए, हे देवो! हम तुम्हें ही सबोधन करते हैं। इस संसार में जन्म पाकर जब होश आई है तो हम देखते हैं कि हम सबने एक दिन मरना है, एक निश्चित आयु तक ही हमने जीना है। तुमने मनुष्य की सामान्य आयु सौ वर्ष की रखी है। हे 'यजत्रा', हे यजनीय देवो! हमें तुम्हारा यजन करते हुए ही १००, ११६ या १२० वर्ष तक जीवित रहना चाहिए। इसके लिए, हे देवो, हम अपने कानों से सदा भद्र का ही श्रवण करें; जो यजनीय है, जो उचित है, जो कल्याण कारी है, केवल उसे ही सुनें। आँखों से, जो कुछ यजनीय है केवल उसे ही देखें। अभद्रवस्तु, बुरी, अनुचित वस्तु में हमारे कान आँख कभी न जायँ। हे देवो! यही तुम्हारा यजन है, यही तुम द्वारा उस भगवान् का यजन है।

हे देवो ! तुम्हारे अंशों से हमारे शरीर की एक एक इन्द्रिय और एक एक अंग उत्पन्न हुए हैं। जिस जिस देव से हमारा जो जो इन्द्रिय व अंग बना है, उस उस अंग द्वारा सदा भद्र का सेवन करना ही उस उस देव का यजन करना है। हे देवो ! इसी तरह हम अपनी एक एक इन्द्रिय से तुम्हारा यजन करते रहेंगे। हमारे हाथ और पैर सदा भद्र का ही सेवन करने के कारण पूर्ण आयु तक चलने योग्य, दृढ़ और बलवान् होंगे। इन दृढ़ हाथों और पैरों से हम जो कुछ ग्रहण करते हैं, जो कुछ चलते हैं, वह सब तुम द्वारा प्रभु की स्तुति करना है। एवं हम अपने एक एक बलिष्ठ स्वस्थ अंग से जो भी कुछ भद्र चेष्टा व हरकत करते हैं, हे देवो ! वह सब प्रभु-यजन है। हम चाहते हैं कि इसी तरह हम अपने एक एक अंग से सदा भद्र ही करते हुए तुम्हारी दी हुई यज्ञिय आयु को पूर्ण कर दें।

अहा ! अपने स्वस्थ, बलिष्ठ, पवित्र अंगों द्वारा सदा भद्र का ही सेवन करने वाले के लिए यह जीवन कैसा एक पवित्र यज्ञ बन जाता है।

शब्दार्थ—

(देवाः) हे देव ! हम (कर्णेभिः) कानों से (भद्रं) भद्र का ही (शृणुयाम) श्रवण करें। (यजत्राः) हे यजनीय देवो (अक्षभिः) हम आँखों से (भद्रं पश्येम) भद्र को ही देखें। (स्थिरैः अंगैः) अपने मज़बूत अंगों से, (तनूभिः) शरीरों से (तुष्टुवांसः) सदा स्तुति पूजन करते हुए ही (यत् देवहितं आयुः) जो हमारी देवों द्वारा स्थापित आयु है उसे (व्यशेम) प्राप्त करलें।

❀ ❀
❀

१४ ज्येष्ठ

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते, सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां, सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥

ऋ० ५.६०.५॥

विनय

संसार भर के सब मनुष्य (मरुत) परस्पर भाई भाई हैं। मनुष्यमात्र एक ही माता पिता के पुत्र हैं। संसार के किसी देश के एक कोने में रहने वाले मनुष्य उसी तरह पिता "रुद्र" परमेश्वर है और माता "पृश्नि" प्रकृति है जैसे कि किसी दूसरे कोने के रहने वाले के। मनुष्य की दृष्टि से इनमें न कोई बड़ा है और न छोटा है। काले गोरे, हबशी और सभ्य, पूँजीपति और श्रमी, पौर्वात्य और पाश्चात्य, ब्राह्मण और अछूत, हिन्दू और मुसलमान, जापानी या अमेरिकन, अंग्रेज़ या हिन्दूस्तानी, नागरिक व देहाती सबके सब एक समान परस्पर मनुष्य भाई हैं। इनमें ऊँच नीच मानना अज्ञान है। मनुष्य की दृष्टि से छोटा बड़ा मानना अनुचित है। संसार भर के मनुष्यों को "मरुत् देवों" की तरह, उत्तम कल्याण के लिये मिल करके यत्न करना चाहिए, मिल करके संसार में मनुष्यता की उन्नति करनी चाहिये। जब मनुष्य मनुष्य आपस में घृणा करते हैं, भिन्न भिन्न देश के वासी होने से या भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी होने से लड़ते हैं, एक दूसरे का तोपों बन्दूकों और ज़हरीली गैसों से घात करते हैं, छोटे बड़े का अभिमान कर एक दूसरे पर अत्याचार करते हैं, तब वे अपने एक समान

पिता माता को भूल जाते हैं। क्या अंग्रेज़ भाइयों को पैदा करनेवाला प्रभु और है और भारतवासियों का और ? वह एक ही रुद्र हम सब मरुतों का पिता हैं। वह कभी बुड्ढा न होने वाला, कभी न मरने वाला पिता है। वह हम सब के लिए कल्याण-कर्म करने वाला पिता है। और हम सब की माता यह प्रकृति है जोकि हमारे लिए उत्तम ऐश्वर्यों का दूध प्रदान कर रही है और हमें सब सुख पहुँचा रही है। आओ ! हम इन सब झूठ भेदभावों को भूलकर—काला गोरा, पूँजीपति श्रमी, छूत अछूत, इस देशवासी और उस देशवासी इन सब भेदों को भूलकर—हम सब मनुष्य, सब के सब मनुष्य, मिलकर मनुष्यमात्र के हित का ध्यान करें; एक दूसरे के हित का ध्यान करें ! अपने शोभन कर्म करने वाले अमर पिता के आशीर्वाद को पाते हुए और करुणामयी सुखदात्री माता द्वारा अपनी सब कामनाएँ पूरी करते हुए अपनी उन्नति का साधन करें और भाई भाई की तरह एक दूसरे का सहायता करते हुए मनुष्यता के उद्देश्य की पूर्ति में बढ़ते जायँ।

शब्दार्थ—

(अज्येष्ठासः) जिनमें कोई बड़ा नहीं है और (अकनिष्ठासः) जिनमें कोई छोटा नहीं है ऐसे (एते) ये सब (भ्रातरः) परस्पर भाई (सौभगाय सं वावृधुः) उत्तम ऐश्वर्य के लिए मिलकर उन्नति करनेवाले हैं। (एषां) इन सब का (युवा पिता) सदा युवा पिता (स्वपा रुद्रः) कल्याण-कर्म करने वाला रुद्र परमेश्वर है और (मरुद्भ्यः) इन मरुतों— मनुष्यों— के लिए (सुदिना)*सुख देनेवाली (सुदुघा) उत्तम दूध देनेवाली माता (पृश्निः) प्रकृति है।

* सुदिन इति सुखनामसु पठितम्।

१५ ज्येष्ठ

का त उपेति मनसो वराय, भुवदग्ने शं तमा का मनीषा।
को वा यज्ञैः परि दक्षं त आप, केन वा ते मनसा दाशेम॥

ऋ० १.७६. १॥

विनय

हे अनन्त देव! हम परिमित मनुष्य किसी भी प्रकार से तेरे संम्पूर्ण रूप को ग्रहण नहीं कर सकते। हम अपने अपूर्ण साधनों द्वारा तेरे पास पहुंचने के लिए—तुझे वर लेने के लिए जीवन भर यत्न ही करते रहते हैं। हमारे मन में यह सामर्थ्य नहीं कि वह तेरे परिपूर्ण रूप को कभी मनन कर सके। तो तेरे पास पहुँचने का साधन, उपाय हमारे पास क्या है? हम कभी समझते हैं कि शायद हम हार्दिक भक्ति करके तुझे सुख पहुँचा लेंगे। पर यह तो हमारा तेरे विषय में सांसारिकभाषा में बोलना मात्र है। भक्ति से बेशक हमें बड़ा लाभ मिलता है, पर हमारी हार्दिक प्रार्थनाओं या स्तुतियों का तुझ पर वास्तव में किसी प्रकार का प्रभाव नहीं होता। तू तो शुद्धस्वरूप में अलिप्त रहता है। मनुष्य समझते हैं कि यज्ञ तो बड़ी व्यापक वस्तु है अतः शायद यज्ञ तेरी परिपूर्ण वृद्धि और बल को ग्रहण करने में पर्याप्त हो सकेंगे। पर ऐसा नहीं होता। तू केवल अपने ही परिपूर्ण यज्ञ से अपने को पा सकता है। पर मनुष्य के किये यज्ञ तो कभी ऐसे परिपूर्ण नहीं हो सकते कि उन यज्ञों

से तेरी अनन्त महत्ता का; तेरे अनन्तबल का, पार पाया जा सके। ये सब यज्ञ कुछ कुछ अंश में ही तुझे व्याप्त कर पाते हैं। हम तो बेशक तेरे उतने अंश की प्राप्ति से ही कृतकृत्य हो जाते हैं "प्यासे को तो एक लोटा भर पानी काफी है, उसे समुद्र की गहराई मापने की क्या जरूरत?"[१] पर यह सत्य है कि हम तेरी गहराई को माप नहीं सकते, यज्ञ भी इस में असमर्थ हैं। यह क्यों न हो? क्योंकि सब स्तुति, भक्ति और यज्ञ आदि हम अपने मन द्वारा ही तो करते हैं और इस हमारे मन में शक्ति ही कितनी है? अतः यह कहना चाहिए कि हमारा मन हो तुम्हारे योग्य नहीं है। मनुष्य के क्षुद्र मन की तुम अगम तक पहुँच ही नहीं है। तो वह मन हम कहां से लाएँ जिस द्वारा हम अपनी यह भक्ति व यज्ञ व ज्ञान की की आहुति तुझ तक पहुँचा सकें? ओह! सचमुच यह स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में बँधा हुआ मनुष्य तेरी परिपूर्ण उपासना—तेरी परिपूर्ण आराधना—कभी नहीं कर सकता।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने! (ते मनसो वराय) तेरे मन को वरने के लिए (का उपेति भुवत्) कौनसा उपाय—तेरे पास पहुँचने का साधन—है? (का मनीषा शं तमा) और हमारी कौनसी हार्दिक इच्छा या स्तुति तेरे लिए सुखकारी हो सकती है? (को वा) अथवा कौन मनुष्य है जो (यज्ञैः तं दक्षं परि आप) यज्ञकर्मों द्वारा तेरी वृद्धि या बल को व्याप्त कर सकता है, इसके लिए पर्याप्त होता है? (केन वा मनसा ते दाशेम) या वह मन ही हमारे पास कौनसा है जिससे हम तुझे हवि दे सकें?

१ श्री रामकृष्ण परमहंस यह कहा करते थे।

१६ ज्येष्ठ

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय, सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयः, तदित्सोमो अवति हन्त्यासत् ॥

ऋ० ७. १०४. १२ ॥ अथर्व० ८. ४. १२ ॥

विनय

मनुष्य जब ऊँचे वास्तविक ज्ञान को विवेकपूर्वक जानना चाहता है, जब वह सत्यज्ञान की खोज में होता है, तब उस विवेकशील पुरुष के सामने सत् और असत् दोनों स्पर्धा करते हुए आते हैं। दोनों उसके सामने अपनी अपनी श्रेष्ठता दिखाना चाहते हैं, दोनों उसके हृदय पर कब्जा करना चाहते हैं। कभी सत् प्रबल होता है। कभी असत् प्रबल होता है। इस तरह देर तक यह स्पर्धा यह लड़ाई, चलती रहती है। जब उस पर किन्हीं कुटिल और असत्य से काम निकालने वाले लोगों का प्रभाव पड़ता है तब वह असत्य को ही काम की चीज़ समझ लेता है और यदि वह सत्ग्रन्थों को पढ़ता है या सच्चे, निष्कपट, पवित्र लोगों के संग में आता है तो सत्य की महत्ता को समझने लगता है। फिर किसी जबरदस्त बलवान् नीतिनिपुण पुरुष का प्रभाव उसे यह सिखला देता है कि संसार में असत्य के बिना काम नहीं चलता है, पर फिर कोई महान् सत्यनिष्ठ पुरुष उसे सत्य का पुजारी, सत्य के पीछे पागल बना देता है। इस तरह सत् और असत् दोनों प्रकार के वचन (ज्ञान) उस पर प्रभाव जमाने के लिए स्पर्धा करते रहते हैं। पर मनुष्य को यह पता होना

चाहिए, (और विवेकी पुरुष को यह धीरे धीरे पता हो जाता है) कि मनुष्य के हृदय में बैठा हुआ सोम परमेश्वर तो सदा सत् की, अकुटिल की ही रक्षा कर रहा है और असत् को नाश कर रहा है। जो लोग इस सत्य से अभिज्ञ हो जाते हैं वे तब सोम की शरण में जाना चाहते हैं। और जो सचमुच सर्वोच्च सत्य ज्ञान की खोज में लगे हुए हैं उन्हें इसी हृदयस्थ सोम देव की शरण जाना चाहिए, तभी उन्हें अपना अभीष्ट मिलेगा। क्योंकि सब भूतों के हृद्देश में बैठे हुए सोम ईश्वर के आश्रय को मनुष्य जितना ही अधिक सर्वतोभाव से ग्रहण करता है उतना ही उस में असत्य का नाश होकर सत्य और निष्कपटता बढ़ती जाती है और उसमें सुविज्ञान भरता जाता है। अतः इस सत् और असत् की लड़ाई में मनुष्य जितना ही सोम का आश्रय लेगा उतनी ही जल्दी उसमें सत्य की विजय होगी, और उसे शान्ति मिलेगी। हर एक जीव की इस सत् असत् की स्पर्धा में जल्दी या कितनी देर में अनन्तः सोम परमेश्वर द्वारा विजय तो सत्य की ही होनी निश्चित है। क्योंकि वे सोम सदा सत्य का, सत्यवचन का, सत्यव्यवहार का रक्षण कर रहे हैं और असत्य का, असत्यभाषण का, असत्य व्यवहार का हनन कर रहे हैं।

शब्दार्थ—

(सुविज्ञानं) उत्तम विशेषज्ञान को (चिकितुषे) जानना चाहने वाले वि को (जनाय) मनुष्य के लिए (सत् च असत् च) सत्य और असत्य (वचसी) वचन या ज्ञान (पस्पृधाते) परस्पर स्पर्धा करते हैं। (तयोः) इन दोनों में से (यत्सत्यं) जो सत्य है (यतरत् ऋजीयः) जौनसा सरल, अकुटिल, छलरहित है (तत् इत्) उसे ही (सोम) सोम परमेश्वर (अवति) रक्षा करता है (असत् हन्ति) और असत् का नाश करता है।

१७ ज्येष्ठ

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुः, वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत् ।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः, किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥
ऋ० ६.९.६ ॥

विनय

हे प्रभो ! मैं चाहता हूं कि मैं बिल्कुल एकाग्र होकर अपनी मानसिक-वाणी द्वारा तेरा नाम जपूँ या तेरा मनन करूँ, तेरा ध्यान करूँ । परन्तु जब मैं ऐसा करने के लिए बैठता हूँ तो कुछ भी शब्द सुनाई पडते ही मेरे कान वहाँ दौड़े जाते हैं, आंखों के सामने कुछ भी आते ही मैं वहाँ देखने लगता हूं । कभी कान कुछ सुनने लगते हैं, कभी आंखे कुछ देखने लगती हैं । और यदि मैं किसी ऐसे स्थान पर जाकर बैठता हूं जहाँ शब्द और रूप आ ही न सकें, तो भी मैं देखता हूँ कि मेरा मन ही अन्दर अन्दर सब कुछ देखता, सुनता रहता है । दिन रात की किसी बात का स्मरण आते ही मन वहां से भाग जाता है और वहाँ की बात सोचने लगता है । तब पता लगता है कि मेरा मन कितनी दूर पहुंचा हुआ है । और यदि किसी दिन कोई मन पर चोट लगाने वाली बात हो चुकी होती है तब तो मन बार बार वहीं पहुँचता है—रोकने का बड़ा यत्न करने पर भी क्षण क्षण में वहीं जा पहुँचता है । मेरे हृदय में जगने वाली वह ज्योति भी—जो वातरहित स्थान में रखे हुए दीपक की शिखा की तरह बिल्कुल अनिङ्गित, बिल्कुल ही न हिलती हुई, एक रस जलती हुई रहनी चाहिए—वह ज्योति, वह ज्ञान-ज्योति भी सदा इधर

उधर हिलती रहती है, मनोवृत्तियों की हवा लगते रहने से हिलती रहती है। तो फिर मैं तेरा ध्यान कैसे कर सकता हूं? एकाग्रता से तेरा नाम कैसे जपूँ? तेरा मनन कैसे करूँ? और यदि प्रतिदिन तेरा इतना भी भजन न कर सकूँगा तो उस दिन जब कि मेरी यह जीवन-साधना समाप्त होगी, उस दिन तुम्हें क्या उत्तर दूँगा? तुम्हारे सामने किस बात का अभिमान कर सकूंगा? यह जीवन, ये सब ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां, तुमने मुझे तुम्हारे समीप पहुँचने की साधना ही के लिए दी हैं। तो उस दिन जब कि तुम यह शरीर वापिस मांगोगे तब मैं तुम्हें क्या उत्तर दूँगा? क्या मुंह दिखलाऊँगा? हे प्रभो! शक्ति दो कि मेरे मन की आज्ञा के विना मेरे ये कान, आंख आदि कहीं न जा सकें और यह मन भी हृदय की ज्योति के साथ मिल जाया करे ज्योति एक-रस जगती रहे। ऐसी अवस्था दिनमें दो बार सन्ध्योपासना के समय तो हो जाया करे, नहीं तो मैं क्या मुँह दिखाने लायक रहूंगा।

शब्दार्थ—

(मे कर्णा वि पतयतः) मेरे दोनों कान इधर उधर जा रहे हैं (चक्षुः वि) मेरी आंख इधर उधर विविध स्थानों पर पड़ रही है (हृदये आहितं यत् ज्योति) (तत्) इदं वि) हृदय में स्थापित जो यह ज्ञानरूप ज्योति है वह भी विविध स्थानों पर दौड़ रही है (मे मनः दूरे आधीःविचरति) मेरा मन दूर दूर चिन्ता के विषयों में विचरण करता रहता है। ऐसी अवस्था में हे प्रभो! (किं स्वित् वक्ष्यामि) मैं क्या बोलूंगा, या क्या उत्तर दूँगा? (किमु उ नु मनिष्ये) और मैं क्या मनन करूँगा या क्या अभिमान कर सकूँगा।

❀ ❀
❀

१८ ज्येष्ठ

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृत्तु, उपो एमि चिकितुषो वि पृच्छम्।
समान मिन्मे कवयश्चिदाहुः, अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥

ऋ० ७.८६. ३ ॥

विनय

हे प्रभो ! मैं तेरे दर्शन पाने के लिए व्याकुल हूँ। तुझ से साक्षात् मिलने के लिए दिन रात प्रतीक्षा में हूँ। इसके लिए यत्न करते हुए बहुत दिन हो गये। ऐसा एक भी साधन नहीं छोड़ा जोकि तुझसे मिलने वाला प्रसिद्ध हो। कठोर से कठोर तप बड़े आनन्द से किये हैं। तो अब कौन सा पाप रह गया है जिससे तुम्हारे चरण-दर्शन नहीं हो पाते ? हे वरुण, तुम से ही पूछता हूं, मुझे मालूम नहीं। मुझे मालूम होता तो मैं कब का प्रतिकार कर चुका होता। हे पाप निकारक ! तुम ही मुझ दर्शनपिपासु को वह मेरा अपराध बताओ जिससे अप्रसन्न तुम मुझे दर्शन नहीं देते। मनुष्य में मैं जिन्हें ज्ञानी भक्त, विद्वान्, महात्मा देखता हूं उन सब के पास जाता हूं और जाकर यही पूछता हूँ कि वरुण देव के मुझे दर्शन क्यों नहीं होते ? पर वे सब क्रान्तदर्शी महात्मागण भी मुझे एक स्वर से यही बतलाते हैं कि वह वरुण देव ही तुझ से नाराज़ हैं वे सब सच्चे

ज्ञान मुझे यही एक उत्तर देते हैं। तो, हे देव! मैं अब तुम्हारे बिना अब और किससे पूछूँ? सचमुच अब और किसी से पूछना वृथा है। हे देव, या तो मेरा पाप मुझे दिखला दो, अपनी अप्रसन्नता का कारण बतलादो, नहीं तो मुझे दर्शन दे दो। हे मेरे स्वामी! जब मुझे अपने पाप का पता न लगेगा तो मैं उस का प्रतीकार कैसे कर सकूँगा। मैं तुम्हें प्रसन्न करके छोड़ूँगा। अपने पापों के प्रतिविधान के लिए मैं घोर से घोर प्रायश्चित को तैयार हूं। अपने को पूरी तरह पवित्र कर डालने के लिए आज मैं क्या नहीं कर डालूंगा! मैं अब तुझ से मिल जाने के लिए व्याकुल हो उठा हूं। इसीलिए, हे अन्तर्यामी प्रभो, मैं तुझसे अपने पापों को जानना चाहता हूं। मेरे पापों के सिवाय इस संसार में और कोई वस्तु नहीं है जो कि अब मुझे तुमसे मिलने से रोक सके।

शब्दार्थ—

(वरुण) हे पाप निवारक देव! (तत् एनः पृच्छे) मैं उस पाप को तुझ से पूछता हूँ [जिसके कारण मुझे तुम्हारा दर्शन नहीं हो पाता] (दिदृक्षुः) मैं तुम्हारा दर्शनाभिलाषी हूँ। (वि पृच्छं) इस विषय में विविध प्रश्न पूछने के लिए मैं (चिकितुषः) विद्वानों के (उपो एमी) पास जाता हूँ परन्तु (कवयः चित्) वे सब ज्ञानी पुरुष भी (समानं इत् मे आहुः) मुझे एक ही उत्तर देते हैं—एक ही बात कहते हैं—कि "(अयं वरुणः ह) निश्चय से यह वरुणदेव ही (तुभ्य हृणीते) तुझ से अप्रसन्न है; उसे प्रसन्न कर।"



१६ ज्येष्ठ

य आपि नित्यो वरुण प्रियः सन् ,त्वां आगाँसि कृणवत्सखा ते ।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम,यन्धि ष्मा विप्रःस्तुवते वरुथम् ॥

ऋ० ७.८८ ६ ॥

विनय

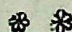
हे जगदीश्वर! यह जीव तुम्हारा सनातन बन्धु है, यह तुम से जुदा नहीं हो सकता। यह जीव चाहे कितना पतित हो जाय पर असल में यह स्वरूपतः चेतन आत्मा ही है। इस जीवात्मा में तुम सदा स्वामी (संचालक) होकर व्याप्त हो और तुममें यह जीव-आत्मा सदा आश्रित है। एवं जीव सदा तुम्हें प्राप्त तुम्हारा 'आपि:' है और सदा तुमसे बँधा हुआ तुम्हारा बन्धु है, तुम्हारा सखा है। यह तुम्हारा साथी तुम्हें इतना प्रिय भी है कि तुमने स्वयं कुछ न भोगते हुए भी इस जीव के भोग के लिये ऐश्वर्यों से भरा यह सब संसार खोलकर रख दिया है। पर फिर भी यह जीव—यह तुम्हारा ऐसा प्यारा सखा जीव—इस संसार में तुम्हारे प्रति अपराध करता रहता है, तुम्हारे नियमों का भंगकर तुम्हें अप्रसन्न करता रहता है।

हे यजनीय देव! हम जीवों को इस प्रकार तुम्हारे प्रति अपराधी होने पर क्या करना चाहिए? हमें यह चाहिए कि हम पापी होने पर तुम्हारे दिये गये भोगों को त्याग दिया करें। हे यक्षिन्! पाप करते ही हम द्वारा तुम्हारे यज्ञ का भंग हो

जाता है और मनुष्य को बिना यज्ञ किए भोग भोगने का अधिकार नहीं है। अतः पापी होकर हमें भोग त्याग कर देना चाहिए, किसी भोग के त्याग के रूप में उस पाप का प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए। पापी होने पर हम भोग कभी न करें। ऐसा करने से पाप का प्रतीकार हो जाता है—आगे के लिए पाप का निवारण हो जाता है। ऐसा करने से हमें तुम एक 'वरुथ' अर्थात् सुरक्षित घर वा आश्रय दे देते हो। हे जगदीश्वर! तुम सर्वज्ञ हो, मेरे हृदय को जानते हो, मुझ अपने उपासक के सब सच्चे भावों को जानते हो। अतः अब जब कभी मुझसे किसी तुम्हारे नियम का भंग होगा तो मैं किसी भोग के त्यागने के द्वारा तेरी शरण में आने के लिए अपने हाथ फैलाऊँगा। हे विप्र! हे स्वामी! तब मुझे अपना 'वरुथ' अवश्य प्रदान कीजिएगा, हाथ फैलाए हुए मुझे अपनी गोद में स्थान देकर सुरक्षित कीजिएगा, कुछ समय के लिए अपने घर में मुझे आश्रय दीजिएगा; जिससे पवित्र होकर आगे के लिए मैं वैसा नियम भंग करने से अलग रहूँ।

शब्दार्थ—

(वरुण) हे वरुण! (यः नित्यः आपिः) जो तेरा सनातन बन्धु है वह (ते सखा) तेरा साथी (प्रियः सन्) तेरा प्यारा होता हुआ भी (त्वां आगांसि कृणवत्) तेरे प्रति पाप—अपराध—किया करता है। (यक्षिन्) हे यजनीय देव! (एनस्वन्तः) पापी होते हुए हम (ते मा भुजेम) तेरे दिए भोग न भोगें (विप्रः स्तुवते वरुथं यन्धि स्म) इस प्रकार तुम सर्वज्ञ मुझ उपासक को अपनी शरण या घर देदो।



२० ज्येष्ठ

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति, न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तं, उभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥

ऋ० ७.१०४.१३ ॥ अ० ८.४.१३ ॥

विनय

जगदीश्वर सोम रूप से सब जगत् का पालण पोषण कर रहे हैं। सोम-प्रभु के जीवनदायी रस को पाकर ही सब संसार बढ़ रहा है, पुष्ट हो रहा है। पर ये भगवान् पाप को कभी नहीं बढ़ाते हैं, इनका यह सोमरस पाप को कभी नहीं पहुँचता है। और सब पापों का स्रोत—मूल-जो असत्यता है, उसे तो परमेश्वर का जीवन-रस मिलता ही नहीं है।

जब मनुष्य सदा वर्तमान 'सत्' के विरुद्ध कुछ और असत् की अपने अन्दर रचना करके धारण करता है, इस तरह दुहरी बातों को अपने अन्दर धारण करता है, तो यह 'मिथुया धारयन्' मनुष्य अपने इस दूसरे असत् द्वारा अपने आपको आच्छादित कर लेता है और एवं सत्य की सोम-धारा से अपने को वंचित कर लेता है। हरेक पाप का करना भी क्रिया द्वारा सत्

से इन्कार करना है। अतः ज्यूंही मनुष्य असत् की अपने में रचना करता है या ज्यूँही वह क्रिया से सत्यविरुद्ध कर्म (पाप=वृजिन) करता है त्योंही उसका सत्स्वरूप जीवनरसदायी सोम से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, वह ईश्वरीय जगत् से जुदा हो जाता है, मानों वह परमेश्वर के बंधनागार में पड़ जाता है, अपने असत् द्वारा ही वह ढक जाता है, वह बँध जाता है। जहाँ परश्वमेर सोमरूप से सब ठीक चलने वालों को 'जीवन देकर बढ़ा रहे हैं, वहाँ इन्द्र ('इदं दारयिता') रूप से ये ही परमेश्वर विपरीतगामी को जुदाकर बाँधने वाले भी हैं। इस तरह असत्य बोलने वाला या पाप करनेवाला जीवनरस से वंचित होकर, सूखकर नष्ट हो जाता है। इसीलिए वर्जनीय होने से पाप का नाम 'वृजिन' है तथा पाप ही 'रक्षः' कहलाता है, चूंकि इससे अपने आपको सदा रक्षित १ रखना चाहिए। इस वृजिन को, 'रक्षः' को, वह परमेश्वर नाश ही कर देता है, कभी बढ़ाता नहीं है।

मनुष्य यदि इस सत्य को समझे, इसमें उसे जरा भी संदेह न हो, तो वह पाप करते हुए घबरावे और असत्य बोलते हुए उसका कलेजा काँपे। संसार में यद्यपि हमें दीखता है कि परमेश्वर भी पाप को ही मदद दे रहा है और झूठे को बढ़ा रहा है परन्तु यह हम क्षुद्र बुद्धिवाले अल्पज्ञों का भ्रम है। हम अल्पज्ञ नहीं देख सकते कि किस पाप का फल कब और कैसे मिलता है, हम नहीं देख सकते कि कहीं इस समय पापी होने वाले पुरुष

१—रक्षितव्यं यस्मात्—निरुक्त ४. ३. २।

के भी पुराने किन्हीं पुण्यों का फल तो नहीं मिल रहा है। इस प्रकार की अल्पज्ञता के कारण हमें भ्रम होता है। और इसीलिए (इस भ्रम को निवारण करने के लिए) यह बात कहने की आवश्यकता होती है कि सोम कभी भी पापी को बढ़ा नहीं रहा है, किन्तु बड़े बलवान् दीखने वाले झूठे का भी नाश ही कर रहा है। हरेक झूठ का, हरेक असत्याचरण (पाप) का फल मनुष्य को जीवन-रस से वंचित करना और उसे नष्ट करना हो रहा है। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है। वास्तव में ही हरेक झूठ बोलना मरना है, हरेक पाप करना आत्मघात करना है।

शब्दार्थ—

(सोमः) सोम रूप परमेश्वर (वै) निस्सन्देह (न उ) न तो (वृजिनं) वर्जनीय पाप को (हिनोति) बढ़ाता है, समर्थन करता है और (न) न ही (मिथुया धारयन्तम्) दुहरी बात को—झूठ को—धारण करने वाले (क्षत्रियं) बलवान् को ही बढ़ाता है, किन्तु वह तो (रक्षः) पाप-राक्षस का (हन्ति) हनन करता है और (असद् वदन्तं) असत्य बोलने वाले का (हन्ति) हनन करता है, ये (उभौ) दोनों ही (इन्द्रस्य) इस इन्द्र रूप परमेश्वर के (प्रसितौ) बन्धन में (शयाते) पड़ते हैं।



२१ ज्येष्ठ

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातु र्योना परिवीतो अन्तः, बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश॥
ऋ० १.१६४.३२॥ अथर्व० ९.१०.१०॥

विनय

मनुष्य संसार-सागर में डूबता जाता है। मनुष्य ज्यों ज्यों 'बहुप्रजा' होता जाता है त्यों त्यों यह 'निर्ऋति' में—घोर कष्ट में—पड़ता जाता है। विषयग्रस्त हुआ मनुष्य इस संसार में अपने बच्चे पैदा करना यही कार्य समझता है, एवं प्रकृति में अपने विस्तार को नाना तरह बढ़ाता जाता है। इसीलिए वह बार बार जन्म पाता है, बार बार जन्म के घोर कष्टों को अनुभव करता है। ऋषि लोगों ने देखा है कि माता की योनि में आए हुए जीव को बार बार बड़ा भारी मानसिक क्लेश भोगना पड़ता है। उस समय यह जीव केवल झिल्ली से ढका हुआ नहीं होता, किन्तु घोर अज्ञान से भी ढका हुआ होता है। क्योंकि 'बहुप्रजाः' के मार्ग पर जाना अज्ञान से ढके जाने से ही होता है। मनुष्य

'ढका हुआ' (परिवीत) होने से ही इस संसार में पागल तथा अंधे की तरह रहता है। मनुष्य पागल इसलिए है, चूँकि वह जो दिन रात अन्धाधुन्ध काम करता है उसे वह जानता नहीं, यूँ ही करता जाता है। मनुष्य जो खाना पीना, चलना फिरना, प्रेम करना, द्वेष करना आदि जो कुछ करता है उसे वह कुछ भी नहीं जानता कि मैं यह क्या कर रहा हूँ, क्यों कर रहा हूं इसका क्या प्रभाव होगा। वह नहीं जानता कि इसका ही फल उसे भोगना होगा। वह नहीं जान पाता कि पहिले जन्मों में वह न जाने क्या क्या कर चुका है। अन्धाधुन्ध वह करता जाता है। इसी तरह का उसका सब संसार को देखना है। संसार में वह मनुष्य स्त्री, पशु, पहाड़, नदी, आकाश, सभा, समाज, बड़े बड़े आनन्ददायक दृश्य और बड़े बड़े रुलानेवाले दृश्य, इन सबको सोते जागते देखता जाता है, पर असल में वह किन्हीं भी वस्तुओं को नहीं देखता। ये सब वस्तुएँ उससे वास्तव में छिपी ही रहती हैं, निःसन्देह छिपी ही रहती हैं। वह देखता हुआ भी किसी भी वस्तु का तत्त्व नहीं देख पाता। इसी लिए वह 'बहुप्रजाः' होने के—प्रकृति में ग्रस्त होने के—मार्ग को अवलम्बन करता है और 'निर्ऋति' में पड़ता जाता है। निर्ऋति[1] (पृथिवी) के इस अन्धकार में धँसते जाने की जगह, मनुष्य 'द्यौः' के प्रकाश की तरफ जाने लगे, यदि वह इस संसार में जो कुछ करे उसे जानने लगे और जो कुछ देखे उसे साक्षात् करने लगे।

१—निर्ऋतिः = (१) घोर कष्ट, (२) पृथिवी। ये दोनों अर्थ निर्ऋति शब्द के होते हैं।

क्या हम इस संसार के प्रवाह में बहते हुए यूं ही कुछ न कुछ करते जायँगे, कर्मरहस्य और कर्मफल के नियमों को बिना कुछ जाने यूं ही, कुछ न कुछ करते जायँगे ? और क्या हम इस सब संसार को देखते हुए भी न देखेंगे, आंखें खोले हुए भी अन्धे बने रहेंगे ? तब तो हम इस संसार में 'बहुप्रजाः' ही बनेंगे और हमारे भाग्य में घोर कष्ट ही रहेगा।

शब्दार्थ—

(यः) यह मनुष्य (ईं) यह जो कुछ (चकार) करता है (अस्य) इस किये को (स न वेद) वह नहीं जानता है। (यः) वह मनुष्य (ईं ददर्श) यह जो कुछ देखता है वह (तस्मात्) उस देखने वाले मनुष्य से (नु हिरुक् इत्) निःसन्देह छिपा हुआ ही है। (स) ऐसा वह मनुष्य (मातुः योना अन्तः) माता के गर्भाशय में (परिवीतः) [झिल्ली से और अज्ञान से] ढका हुआ (बहुप्रजाः) बार बार जन्म लेता हुआ और बच्चे पैदा करता हुआ (निर्ऋतिं आविवेश) बड़े घोर कष्ट में प्रविष्ट होता जाता है।

*

* *

२२ ज्येष्ठ

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्, अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अथा वयमादित्य व्रते तव, अनागसो अदितये स्याम ॥

ऋ० १. २४. १५ ॥ यजु० १२. १२ ॥ साम० पू० ६. ३. १०. ४ ॥ अ० ७. ८३. ३ ॥

विनय

हे पापनिवारक देव ! तूने हमें तीन बन्धनों से बांध रखा है। उत्तम बन्धन हमारे सिर में हैं जिससे हमारा आनन्द और बुद्धि बँधे हुए हैं, ढके हुए हैं, रुके हुए हैं। यह सत्वगुण का (कारण शरीर का) बन्धन कहा जा सकता है। हृदयस्थ मध्यम बन्धन से हमारा मन और सूक्ष्म प्राण बँधे हुए हैं। यह रज और सूक्ष्म शरीर का बन्धन है। नाभि से नीचे तमोगुण और स्थूल शरीर का अधम बन्धन है जिससे हमारा स्थूल प्राण और स्थूल शरीर बँधा हुआ है। हे वरुण ! इनसे बँधे रहने के कारण हम से तेरे नियमों का भंग होता रहता है और हम पापी बनते रहते हैं। उत्तम बन्धन द्वारा, सच्चा ज्ञान न मिलने से; मध्यम द्वारा राग-द्वेष काम-क्रोध आदि के वशीभूत होने से; और अधम द्वारा, शारीरिकतया त्रुटियुक्त कार्य करने से हम पापी बनते हैं। हे देव ! तू हमारा उत्तम पाश ऊपर की तरफ़ खोल दे जिससे कि मेरी बुद्धि का द्युलोक के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाय और मुझ में सत्य-ज्ञान का प्रवेश होने लगे। मध्यम पाश को बीच से खोल दे जिससे अन्तरिक्ष लोक के समुद्र में मेरे मन के प्रविष्ट हो जाने से इसके रागद्वेषादि रूल धुल जायँ तथा मेरा मन सम

हो जाय। और अधम पाश को नीचे गिरा दे जिससे मेरे पार्थिव शरीर के सब कलुषित परमाणु पृथ्वीतत्व में लीन हो जाँए और हमारा शरीर नीरोग, स्वस्थ होकर प्रभु के कार्य निर्दोष होकर कर सके। हे प्रकाशमय बन्धनरहित देव ! इन बन्धनों के टूट जाने पर हम तेरे व्रत में रह सकेंगे, हमसे तेरे नियमों का भंग होना बन्द हो जायगा। तब हम स्वतन्त्र होकर या आत्म-तन्त्र होकर विचरेंगे। अन्त में मैं 'अदिति' (मुक्ति) के ऐसा योग्य हो जाऊँगा कि एक दिन आएगा जब कि मेरा आत्मा स्थूल-शरीर रूपी बन्धन को नीचे पृथ्वी पर छोड़कर और मानसिक सूक्ष्मशरीर को अन्तरिक्ष में लीन करके अपने ऊपरी बन्धन के भी टूट जाने से ऊपर—द्युलोक—को प्राप्त हो जाएगा। बिना इन तीन बन्धनों के ढीले हुए मैं मुक्ति की तरफ कैसे जा सकता हूँ ? इसलिए, हे वरुण ! इन बन्धनों को एक बार खोल दो जरा ढीला कर दो—जिससे कि मेरा मार्ग साफ हो जाय और मैं यत्न करता हुआ तेरे व्रत में रहनेवाला निष्पाप मोक्षाधिकारी होजाऊँ।

शब्दार्थ—

(वरुण) हे पापनिवारक देव ! तू (अस्मद्) हमारे (उत्तमं पाशं उत्) उत्तम बन्धन को ऊपर की तरफ (मध्यम वि) मध्यम बन्धन को बीच में तथा (अधमं अव) अधम बन्धन को नीचे की तरफ (श्रथाय) ढीला कर दे (अथ) जिससे—इन बन्धनों के टूटने से (आदित्य) हे प्रकाशमय बन्धन रहित देव ! (वयं तव व्रते) हम तेरे नियमों में रहते हुए (अनागसः) पापरहित होकर (अदितये) बन्धन-राहित्य, स्वतन्त्रता, मुक्ति, के लिए योग्य (स्याम) हो जाँय।

२३ ज्येष्ठ

अनुत्तमा ते मघवन्न कि र्नु, न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः।
न जायमानो नशते न जातो, यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥

ऋ० १. १६५. ९॥

विनय

हे सर्वैश्वर्यशालिन्! मैं आज देख रहा हूं कि इस विश्व का सब कुछ—छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा—तेरे हिलाये हिल रहा है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो कि तेरी प्रेरणा से प्रेरित नहीं हो रही है। इस ब्रह्माण्ड-सागर की क्षुद्र से क्षुद्र और महान् से महान् सब लहरें तू ही पैदा कर रहा है। जगत् के अनन्तों परमाणुओं में का जो एक एक एक परमाणु प्रतिक्षण गतिशील है, कीड़ी से कुंजर तक जो सब प्राणी चेष्टा कर रहे हैं, मनुष्य के वैयक्तिक-जीवन और मनुष्य-संघ के समष्टिजीवन में जो नित्य छोटे बड़े परिवर्तन हो रहे हैं, भूकम्प, वर्षा, वायु, अग्नि, ऋतु आदि रूप से जो आधिदैविक जगत् निरन्तर बदल रहा है—यह एक जगत् क्या, ऐसे ऐसे जो कोटि कोटि अनन्त जगत्, जो असंख्यात सूर्य और पृथिवियाँ, इस महाकाश में चक्कर लगा रहे हैं—ये सब के सब, तेरी ही दी हुई गति से, तेरी ही प्रेरणा से चल रहे हैं। तू अपनी पूर्ण ज्ञानमयी ठीक ठीक गति देकर इस सब संसार को नचा रहा है। हम मनुष्य क्या, बड़े से बड़े ज्ञानी देव भी तेरे असीम ज्ञान का पार नहीं

पा सकते हैं। ये सब तेरे ज्ञान को असीम, अनन्त कह कह कर अपनी अज्ञानता को ही प्रकाशित करते हैं। ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों त्यों पता लगता जाता है कि तू कितना कितना महान् है! हे महान्! हे परममहान्!! तेरी महत्ता के आकाश का भी अन्त हमारा कल्पना-पक्षी अपनी ऊँची से ऊँची उड़ान से भी नहीं पा सकता; वह हार मान कर, थक थक कर, शान्त हो जाता है। तब हम तेरी महत्ता को अनन्त मानकर और तेरी लीला को अगम्य कह कर चुप हो जाते हैं। इतना ही कह सकते हैं कि इस जगत् में जो कुछ पैदा हुआ है, हो रहा है या होगा, उनमें से किसी में भी ऐसी शक्ति नहीं है जो तेरी लीला को समझ सके, जो तेरे द्वारा की जाने वाली या की जा रही लीला के किसी ओर-छोर को पा सके। जो तेरी लीला की अधिक से अधिक सच्ची, नज़दीकी और पूरी खबर लाता है तो वह यही खबर लाता है कि तेरी लीला अगम्य है, तेरी लीला अगम्य है।

शब्दार्थ—

(आ) ओह, सच है कि (मघवन्) हे सर्वैश्वर्ययुक्त! (नु ते अनुत्तम्[१] न किः) निस्सन्देह ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो कि तुझसे अप्रेरित है—जो कि तुझसे प्रेरित नहीं है, (त्वावान् विदानः देवता न अस्ति) तेरे समान ज्ञानवाला कोई देवता भी नहीं है, (प्रवृद्ध) हे परम महान्! (न जायमानः न जातः) न तो कोई उत्पन्न होने वाली और न कोई उत्पन्न हुई हुई वस्तु है ([तानि] नशते) जो तेरे उन कर्मों तक पहुँचती है (यानि करिष्या, कृणुहि) जिन कर्मों को तू करेगा या कर रहा है।

१. अनुत्तम् + आ = अनुत्तमा ॥

२४ ज्येष्ठ

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो, यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमामं बभूव, यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः॥

ऋ० २.१२.९ ॥ अथर्व० २०.३४.९ ॥

विनय

'ईश्वर' 'ईश्वर' नाम लोग लिया करते हैं, परन्तु, हे मनुष्यो ! क्या तुम उसे अनुभव करते हो ? बेशक, वह इन्द्रियों से परे होने के कारण आँख आदि से ग्रहण नहीं किया जा सकता, तो भी हरेक मनुष्य उसे अनुभव करता है। इस संसार में जो कुछ मनुष्य को विजय मिलती है वह सब उसी से मिलती है। उसकी अनुकूलता के बिना बड़े से बड़े बली

अभिमानी को विजय नहीं मिल सकती। सब विजय उसी की है। अतः जहाँ हरेक विजय में हम उसकी महत्ता को अनुभव करें, वहां अपनी हरेक हार में भी उसकी महत्ता को देखें जिसकी कि स्वीकृति न होने के कारण ही हमें हरेक हार मिलती है। इस युद्धमय संसार में मनुष्य जब अपनी सब प्रकार की शक्ति से निराश हो जाता है और हारता हुआ अपने को बिल्कुल बेबस जान कर जिस एक अज्ञात और अपने से ऊँची शक्ति को पुकारने लगता है वही शक्ति परमेश्वर है। नास्तिक पुरुष के हृदय में भी उस चरम निःसहायता की अवस्था में किसी अन्य शक्ति से सहायता पाने की छिपी हुई आशा प्रकट हो जाती है। उस शक्ति को क्यों नहीं देखते? अपनी इस चरम निस्सहाय दशा में हार कर, बेबस होकर उस परमेश्वर शक्ति को अनुभव करो जिसके बिना संसार में कोई भी विजय नहीं मिलती। देखो, यह वह है जिसे कि रक्षा पाने के लिए युद्धों में सब मनुष्य पुकार रहे हैं। और यदि चाहो तो संसार की एक एक वस्तु में उसे अनुभव करो। यह सब विश्व उसी को दिखा रहा है। यह संसार और किस में रखा हुआ है? इस विश्व को किसने धारा हुआ है? यह ही वह है जो कि इस सब संसार का आधार, सार और आत्मा है और ऐसा तद्रूप (ऐसा तत्प्रतिम) हो बैठा है कि मनुष्य संसार की वस्तुओं को देखते हैं पर उसे नहीं देखते। पर यह न दीखने वाली ही सब कुछ है। इस संसार में जो असंभव संभव हो रहे हैं, जिनके कभी मिटने की संभावना नहीं होती वे क्षण भर में मिट जाते हैं। ये सब काम वही न दीखने वाला कर रहा है। जिन्हें यह दुनिया अडिग समझती है वह उन्हें भी चुपके से गिरा देता है। उस 'अच्युतच्युत्' को देखो।

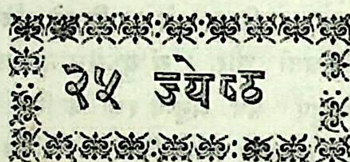
संसार की एक एक चीज में रमे हुए उसे देखो। वह विश्वमय होकर हमारे सामने खड़ा है; उसे क्यों नहीं देखते? हे मनुष्य, उसे देखो, वही इन्द्र है, वही परमेश्वर है।

शब्दार्थ—

(जनासः) हे मनुष्यो! (इन्द्रः स) परमेश्वर वह वस्तु है (यस्मात् ऋते जनासः न विजयन्ते) जिसके बिना मनुष्यों को कभी विजय नहीं मिलती और (यं युध्यमानाः अवसे हवन्ते) जिसको कि युद्ध करते हुए सब मनुष्य रक्षा के लिए पुकारते हैं तथा (यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव) जो विश्व का प्रतिमान अर्थात् उसके प्रत्येक पदार्थ का निर्माता होकर, सब विश्व को अपने में रखकर, तद्रूप हुआ हुआ है (यः अच्युतच्युत्) और जो न डिगने वाले बड़े दृढ़ पदार्थों को भी डिगा देता है।

*

* *



यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरं, उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यःपुष्टीर्विज इवामिनाति, श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥

ऋ० २.१२.५ ॥ अथर्वं० २०.३४.५ ॥

विनय

मनुष्य जब गंभीर भाव से उस परमेश्वर की सत्ता पर विचार करने लगते हैं तो उन में से कोई पूछते हैं 'वह ईश्वर कहाँ है' जिसने इस बड़े भोगदायक संसार में दुःख, दर्द, मृत्यु आदि पैदा करके लोगों का रसभंग कर रखा है, जो कि बड़ा दुष्टों का दलन करने वाला तथा अपने वज्र से पापों का संहार करने वाला कहा जाता है उस घोर भयङ्कर ईश्वर के विषय में वे पूछते हैं कि 'वह कहाँ है ?' 'हमें बताओ वह कहाँ है ?' दूसरे कुछ भाई निश्चय ही कर लेते हैं कि "ईश्वर फीश्वर कोई नहीं है।"— "ईश्वर तो अब २० वीं शताब्दी में मर गया है"—"ईश्वर केवल अज्ञानियों के लिए है।" परन्तु, हे मनुष्यो, ज़रा सावधानी से

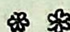
देखो। सत्य को खोजो और इसे धारण करो। देखो कि वे पुरुष जो अपनी समझ में प्रकृतिमय ईश्वरविहीन संसार में रहते हैं, अतः जो इस जगत् में जिस किसी तरह सुखभोग करना ही अपना ध्येय समझते हैं और स्वभावतः विपरीतगामी होकर धर्म दया आदि के सत्यमार्ग को तिरस्कृत कर निरन्तर अपनी पुष्टि की ही धुन में लगे रहते हैं अर्थात् धनसंग्रह, स्त्री, पुत्र, प्रतिष्ठा, प्रभाव आदि से अपने को समृद्ध और पुष्ट करते जाते हैं, उन 'अरि' नामक स्वार्थी लोगों के सामने भी एक समय आता है जब कि उनका यह सांसारिक-भोग का खड़ा किया हुआ सब महल एकदम न जाने कैसे गिर पड़ता है। उनके जीवन में एक भूकम्प सा आता है, उन्हें एक जोर का धक्का लगता है। उनकी वह सब भौतिक-पुष्टि क्षण में मिट्टी हो जाती है, सब ठाठ गिर पड़ता है। उस समय बहुत बार उनका अभिमान नष्ट होता है और वे नम्र होते हैं। कल्याणकारी है वह धक्का, कल्याणकारी है उनका वह सर्वनाश, यदि वह उन्हें नम्र बनाता है, और धन्य हैं वे पुरुष जिन्हें यह कल्याणकारी धक्का लगता है। क्योंकि वहीं पर प्रभु के दर्शन हो जाया करते हैं। हे मनुष्यो, वह ईश्वर आँख से दीखने की वस्तु नहीं है, उसे तो श्रद्धा की आँख से देखो। जो मनुष्यों की बड़ी बड़ी योजनाओं को पल मारते में बदल देता है, कुछ का कुछ कर देता है; जिसके आगे अल्प-मनुष्य का कुछ बस नहीं चलता, जरा उसे देखो, नम्र होकर उसे देखो; वही परमेश्वर है। इस संसार के सबबड़े से बड़े भोग-दायक ऐश्वर्य उसी के हैं जिन्हें कि हम भोगते हैं। उस परमैश्वर्य वाले इन्द्र को श्रद्धा से देखो, उस नम्रता की अवस्था में अपने हृदय की सत्यधारिणी शक्ति (श्रद्धा) से उसे देखो।

हमारे पापों को सुधारने वाली वही है; हमारी विनाशकारिणी, अस्वास्थ्यकरी पुष्टि[1] को गिरा देने वाला वही है। इस तरह कल्याण करने वाला वही है। उस पर श्रद्धा करो, मनुष्यो, उस पर श्रद्धा करो।

शब्दार्थ—

(यं) जिस (घोरं) अद्भुत भयङ्कर वस्तु के विषय में (पृच्छन्ति-स्म) लोग प्रश्न किया करते हैं कि (कुह स इति) "वह कहाँ है" (उत ईं एनं) और जिस इसके विषय में (आहुः) बहुत से कहा करते हैं कि (न एष अस्ति इति) "वह है ही नहीं" (स) वही (अर्यः) अरि के, विपरीतगामी स्वार्थी पुरुष के (पुष्टीः) सब सांसारिक-समृद्धि, पुष्टि को (विज इव) भूकम्प की तरह (आमिनाति) विनष्ट कर देता है। (जनासः) हे मनुष्यो! (अस्मै श्रत् धत्त) इस परमेश्वर पर श्रद्धा करो (स इन्द्रः) वही परमैश्वर्यवान् परमेश्वर है।





1. Unhealthy Development.

२६ ज्येष्ठ

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः, अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

ऋ० १.१६४.४६. ॥ अथर्व० ९.१०.२८ ॥

विनय

हे मनुष्यो ! इस संसार में एक ही परमात्मा है। हम सब मनुष्यों का एक ही प्रभु है। हम चाहे किसी संप्रदाय, किसी पन्थ, किसी मत के मानने वाले हों पर संसार भर के हम सब मनुष्यों का एक ही ईश्वर है। भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न संप्रदायवाले उसे भिन्न भिन्न नाम से पुकारते हैं, पर वह तो एक ही है। जो जिस देश में व जिस संप्रदाय के वायुमण्डल में रहा है, वह वहाँ के प्रचलित प्रभु-नाम से उसे पुकारता है। कोई 'राम' कहता है, कोई 'शिव' कहता है, कोई 'अल्ला' कहता है, कोई 'लार्ड' कहता है। 'विप्रों' ने—ज्ञानी पुरुषों ने—उस प्रभु को जिस रूप में देखा, उसके जिस गुणोत्कर्ष का उन्हें अनुभव हुआ, अपनी भाषा में उसी के वाचक शब्द से उसे वे पुकारने लगे। उन विप्रों द्वारा वही नाम उस समाज व सम्प्रदाय में फैल गया। कोई विप्र गुरु से ग्रहण करके उसे 'ओं' या 'नारायण' नाम से पुकारता है, तो कोई अपने महात्माओं और सद्ग्रन्थों से पाकर उसे 'खुदा' या 'रहीम' कहता है, परन्तु वह प्रभु एक ही है।

हम सांप्रदायिक लोगों ने संसार में बड़े बड़े उपद्रव किये हैं आश्चर्य यह कि ये सब लड़ाई दंगे अपने प्रभु के नाम पर ! वैष्णवों और शैवों के झगड़े हुए हैं, हिन्दू और मुसलमानों में

रक्तपात हुए हैं, यहूदियों और ईसाइयों के युद्ध हुए हैं। यह सब क्यों? यह सब तभी होता है जब हम यह भूल जाते हैं कि "एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति"। वह एक ही है, पर ज्ञानी लोगों ने अपने अपने अनुभवों के अनुसार उसे भिन्न भिन्न नाम दिया है। ईश्वर होने से वही 'इन्द्र' है, मृत्यु से त्राता होने से वही 'मित्र' है। पापनिवारक होने से वही 'वरुण' है, प्रकाशक होने से वही 'अग्नि' है। वेदमन्त्रों में इन नाना नामों से पुकारा जाता हुआ भी वह एक है। इसी तरह वेदमंत्रों ने 'दिव्य,' 'सुपर्ण' (शोभन पतनवाला), या 'गरुत्मान्' (गुरु आत्मा)', 'अग्नि' 'यम (नियन्ता)', और 'मातरिश्वा (अन्तरिक्ष में श्वसन करने वाला), आदि भिन्न भिन्न अनेक देव-नामों से उसी एक प्रभु की स्तुति की है। गिरजे में उपासना (Prayer) करनेवाला सच्चा ईसाई या मस्जिद में भक्तिभाव से उठता बैठता हुआ मुसलमान जिस प्रभु की उपासना करता है, वह वही एक प्रभु है जिसके कि भजन समाज-मन्दिर में एक आर्यसमाजी गाता है। जो सच्चा (ज्ञानी) हिन्दू और सच्चा (ज्ञानी) मुसलमान नहीं है वही हिन्दू या मुसलमानों के 'सविता' या 'खुदा' को जुदा जुदा समझता है। ज्ञानियों ने उस एक को ही भिन्न भिन्न नामों से पुकारा, पर अज्ञानियों ने उसे भिन्न भिन्न नामों से जुदा जुदा समझ लिया और जुदा जुदा कर दिया। अतः वेद की पुकार सुनो 'वह एक है, वह एक है'। एकं सत्। शब्दार्थ—

(विप्राः) ज्ञानी पुरुष (एकं सत्) एक ही होते हुए को (बहुधावदन्ति) अनेक प्रकार से बोलते हैं। उस एक ही को (इन्द्रं, मित्रं, वरुणं अग्निं आहुः) इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि कहते हैं (अथो स दिव्यः सुपर्णः गरुत्मान्) और वही दिव्य सुपर्ण गरुत्मान् कहलाता है (अग्निं, यमं, मातरिश्वानं आहुः) उस एक ही को अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते हैं।

२७ ज्येष्ठ

योजागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति ।
यो जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

ऋ० ५.४४. १४ ॥ सा० उ० ९.२.५ ॥

विनय

संसार में परिपूर्ण जागृत तो एक ही है; वह अग्नि परमात्मा है। यह सर्वथा अनिद्र है, त्रिकाल में जागृत है। उसमें तमोगुण का (अज्ञान व आलस्य का) स्पर्श तक नहीं है। अतएव सब ऋचाएँ, संसार की सब स्तुतियाँ, उसी को चाह रही हैं—उसी के प्रति हो रही हैं। सब सामों का, मनुष्यों के किये सब यशोगानों का, सब स्तुति-गीतियों का भाजन भी वही एक परम-जागृत देव हो रहा है। और देखो, यह समस्त भोग्य-संसार—भोग्य बना हुआ यह सोमरूप ब्रह्माण्ड—उसी जागरूक अग्निदेव के पैरों में पड़ा हुआ कह रहा है "मैं तेरा हूँ, तेरे ही आश्रय से मेरी सत्ता है, तेरी मित्रता में मेरा निवास हो रहा है; तुझसे हटकर मुझे और कहीं ठौर नहीं है।"

इसी तरह हम मनुष्य-जीव भी यदि अपनी शक्तिभर सदा जागृत रहेंगे, सदा सावधान और कटिबद्ध रहेंगे, तमोगुण को दूर हटाकर सदा चैतन्ययुक्त, अतन्द्र रहेंगे, आलस्य के कभी भी वशीभूत न होकर अपने कर्तव्य को तत्क्षण करने के लिए सदा तैयार, उद्यत रहेंगे, कभी प्रमाद न करते हुए—बिना भूलचूक के—अपने कर्तव्य को ठीक ठीक करते जाने के अभ्यासी हो जायँगे; तो हम भी उतने ही अंश में 'अग्नि' रूप हो

जायँगे और तब जागने वाले हम भी उसी अंश में सब लोगों के स्तुत्य और प्रजाओं के यशोगान के अधिकारी भी हो जायँगे तथा अग्नि और सोम का भोक्ता और भोग्य का सम्बन्ध होने के कारण उतने ही अंश में संसार के सब भोग्य-पदार्थ हमारे सामने हाथ जोड़कर खड़े हो जायँगे और कहेंगे कि "हम तुम्हारे हैं।"

परन्तु वास्तविक भोक्ता होना आसान नहीं! संसार के विषयी पुरुष तो भोगों के भोक्ता होने की जगह भोगों के भोग्य बने हुए हैं। परन्तु वही ऐश्वर्य, वही सुख, वही सुख-भोग— जिसके पीछे यह सब संसार दौड़ता फिरता है पर जो लोगों मिलता नहीं, वही ऐश्वर्य (सोम)—जागृत पुरुष के सामने हाथ बाँधकर, सेवक होकर, शरण पाने के लिए आ खड़ा होता है। अग्नित्व को प्राप्त उस मनुष्य के लिए वास्तव में संसार के सब भोग्य-पदार्थ उसकी मित्रता में, उसके हितसाधन के निमित्त, सदा नियत स्थान पर उपस्थित रहते हैं; उसे उन पर ऐसा प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है। अतः, हे मनुष्यो! जागो, जागो, सदा जागृत रहो; तामसिकता त्यागो और निरालस्य-जीवन का अभ्यास करो। जागरूकों के लिए ही यह संसार है; स्तुत्यता, लोक-मान्यता, यश, भोक्तृत्व यह सब जागते रहने वालों के ही लिए है।

शब्दार्थ—

(यः जागार) जो जागता है (तं) उसे (ऋचः) ऋचाएँ, स्तुतियाँ (कामयन्ते) चाहती हैं, (यः जागार) जो जागता है (तं उ) उसे ही (सामानि) साम, स्तुतिगान (यन्ति) प्राप्त होते हैं और (यः जागार) जो जागता है (त) उसे, उसके सामने आकर (अयं) यह (सोमः) सोम, भोग्य-संसार (आह) कहता है कि "(तव अहं अस्मि) मैं तेरा हूँ (सख्ये न्योकाः) तेरी मित्रता में ही मेरा निवास है, तेरे सख्य के लिए मैं सदा नियत स्थान पर उपस्थित हूँ।"

२८ ज्येष्ठ

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुः, यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः ।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं, न स्तां कृणवद् विश्वकर्मा ॥

अथर्व० २.३५.१ ॥

विनय

इस संसार में भोगों को भोगते हुए हम मनुष्यों का साथ ही यह भी कर्तव्य हो जाता है कि हम भोग से क्षीण हो जाने वाले ऐश्वर्य को अपने उत्पादक कर्म द्वारा सदा संसार में बढ़ाते भी जायँ। हरेक अन्न खाने वाले का कर्तव्य है कि वह अन्न को उत्पन्न करने में कुछ न कुछ सहायता भी देवे। यही यज्ञ-कर्म है। जो लोग यह यज्ञ-कर्म नहीं करते उन्हें परमात्मा की अग्नियाँ जलाने लगती हैं; उन्हें दुःख से संतप्त होना पड़ता है। परमात्मा की वे जगत् में स्थापित अग्नियाँ जो कि हम मनुष्यों के लिए भोग्य-ऐश्वर्यों को उत्पन्न कर रही हैं, उन्हें यदि हम भोग भोगने के बाद अपने यज्ञ-कर्म द्वारा अगले भोगों के उत्पन्न करने के लिए सहायता न देंगे—उस दिशा में उद्दीप्त न करेंगे; तो वे अग्नियाँ हमें संतप्त करने लगेंगी। यही संसार में दुःखों के अस्तित्व का रहस्य है। भोग के साथ यज्ञ जुड़ा हुआ है। मनुष्य-समाज इसी तरह चल रहा है। मनुष्य परस्पर मिलकर अपने परिश्रमों से भोग्य-वस्तुओं को बढ़ा रहे हैं, और फिर उन्हें भोग रहे हैं। परन्तु मनुष्य-समाज में जो मनुष्य स्वार्थी होकर भोग का सुख लेना चाहते हैं पर यज्ञ-कर्म (परिश्रम) नहीं करना चाहते, उनकी उस 'दुरिष्टि' द्वारा हमारे मनुष्य-

समाज रूपी यज्ञ में भंग होता है। उनकी इस दुष्प्रवृत्ति से उन का पतन होता है, उनका आत्मतेज दबता जाता है। इस उलटे चक्र को चलाने का यत्न करने के कारण उनको संसार का ताप, दुःख भी मिलता है पर उनकी इस वैयक्तिक हानि से हमारे मनुष्य-समाज की भी क्षति होती है, मनुष्य-समाज को उनका बोझ सहना पड़ता है। उनको कष्ट व अनुताप इसीलिए होता है, इसीलिए मिलता है कि वे यह समझ जाँय कि उन्हें मनुष्य-समाज रूपी यज्ञ का भंग न करना चाहिए। उन्हें अपनी केवल भोग भोगने की 'दुरिष्टि' को बदल कर यज्ञ-कर्म करने की 'स्विष्टि' में ले आना चाहिए। अहा! सब मनुष्य-समाज के व्यक्ति इस सत्य को समझें और सभी स्वेच्छा से यज्ञ-कर्म द्वारा जगत् के ऐश्वर्य को बढ़ाने में सहायक होवें, तो कैसा सुख होवे; किसी को अनुतप्त न होना पड़े, समाज की उन्नति होती जाए। हम तो इस सब जगत् के रचयिता विश्वकर्मा प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वे ऐसे पुरुषों की 'दुरिष्टि' को 'स्विष्टि' में परिणत कर देवें, उन्हें दुष्ट यजन करने वालों की जगह ठीक यज्ञ-कर्म करने वाला बना देवें।

शब्दार्थ—

मनुष्य-समाज में (ये) जो लोग (भक्षयन्तः) निरन्तर भोग करते हुए भी (वसूनि न आनृधुः) उन भोग्य-ऐश्वर्यों को बढ़ाते नहीं हैं और अतएव (यान्) जिन लोगों को (धिष्ण्याः अग्नयः) [परमात्मा द्वारा] जगत् में स्थापित प्राणादि अग्नियाँ (अनु अतप्यन्त) भोग के अनन्तर संताप देती हैं, जलाती हैं (तेषां) उन लोगोंकी (या अवया दुरिष्टिः) जो नीचे गिराने वाली यह दुष्प्रवृत्ति या दुष्ट-यजन है (तां) उसे (नः) हमारे लिए (विश्वकर्मा) विश्वकर्त्ता परमेश्वर (स्विष्टिं) सुप्रवृत्ति या ठीक यजन के रूप में (कृणवतु) कर देवें।

२६ ज्येष्ठ

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृति र्मुखं च, वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं वितत्तं विश्वकर्मणा, देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥

अथर्व० २.३५.५ ॥

विनय

मेरे जीवन-यज्ञ को भरण पोषण करनेवाली मेरी दर्शनशक्ति है। इससे नित्य नया ज्ञान पाता हुआ मेरा मनुष्य-जीवन उन्नत उन्नत होता जा रहा है। इस यज्ञ का साधनभूत जो मेरा स्थूल-शरीर है, उसका भरण पोषण मुँह द्वारा अन्न-ग्रहण करने से हो रहा है। पर मेरा यह सब मानसिक-पोषण और यह सब शारीरिक-पोषण यज्ञ के लिए ही है। मैं उन्नत हुए मन से, शरीर से, इन्द्रियों से जो कुछ करता हूं वह सब हवन ही करता हूँ। ऐसा कुछ नहीं बोलता जो कि प्रभु को साक्षी रख कर नहीं होता, जो कि अन्यों का हितकर नहीं होता। कानों से जो सुनता हूँ वह प्रभु-अर्पण-बुद्धि से सुनता हूं, वह श्रेष्ठ पवित्र ही श्रवण करता हूँ जो कि फलतः सर्वभूतहितं के लिए हो। इसी तरह मन के भी एक एक मनन, चिन्तन को, ऐसा पवित्र, निर्विकार, हवनरूप, करने का यत्न करता हूं। मैं सदा स्मरण रखता हूं कि यह मनुष्य-जीवन मुझे विश्वकर्मा प्रभुने यज्ञरूप करके दिया है। मुझे यह ध्यान रहता है कि यह जीवन-यज्ञ उस प्रभु का प्रारम्भ किया हुआ, चलाया हुआ है। जिस यज्ञस्वरूप ने यह सब विश्व-ब्रह्मांड रचा है उसी विश्वकर्मा ने अपने इस विश्व में मेरा यह छोटा सा

जीवन-यज्ञ भी शतवर्ष तक चलने के लिए प्रारम्भ किया है। यही विचार है जो कि मुझे अपने एक एक कर्म को संयमपूर्ण, पवित्र और त्यागमय बनाने को प्रेरित करता है। मैं सचिन्त और सावधान रहता हूँ कि कहीं यह विश्वकर्मा का विस्तृत किया हुआ पवित्र यज्ञ मेरे किसी कर्म से कभी भ्रष्ट न हो जाए। इसलिए, हे देवो, प्रभु के संसार-यज्ञ को चलाने वाली दिव्य-शक्तियो, तुम मेरे इस यज्ञ में भी प्रसन्नचित्त होकर आओ और इसे अधिक अधिक यज्ञिय, पवित्र बनाओ। तुम्हारा तो कार्य ही यज्ञ में आना है। अतः हे दिव्य गुणो! तुम मुझ में आओ, प्रसन्न-चित्त होकर आओ। मैं अपने जीवन को यज्ञ बनाता हुआ तुम्हें बुला रहा हूँ। अतः, हे यज्ञप्रिय देवभावो! तुम प्रसन्नतापूर्वक मुझमें वास करो। देवों के सब गुण, सब देवभाव, सब देवत्व मुझ में आ जावें, स्वभावतः मुझ में आ जावें, मुझमें बस जावें।

शब्दार्थ—

(यज्ञस्य) मनुष्य-जीवन-यज्ञ के (प्रभृतिः) भरण पोषण का साधन (चक्षुः) दर्शनशक्ति है (मुखं च) और मुख भी है (वाचा श्रोत्रेण मनसा) वाणी से, कान से और मन से (जुहोमि) मैं हवन ही करता हूं। (इमं यज्ञं) यह मेरा जीवन-यज्ञ (विश्वकर्मणा) जगत् रचयिता परमात्मा ने (विततं) विस्तृत किया है, इसमें (देवाः) सब देव, दिव्यभाव (सुमनस्यमानाः) प्रसन्न होते हुए (आ यन्तु) आवें।

३० ज्येष्ठ

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीया, उतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति ॥

अथर्व० ११ ५.४ ॥

विनय

यह संसार ब्रह्मचर्य से ही पालित, पोषित, और पूरित हो रहा है। इस जगत् के आधार में यदि ब्रह्मचर्य का परमवीर्य न होता, तो यह जगत् कब का ख़तम, खाली और छूछा हो चुका होता। अपने शारीरिक वीर्य की, ब्रह्मतेज की और आत्म-वीर्य (आत्म-तेज) की रक्षा करने वाले संयमी ब्रह्मचारी लोग ही हैं जो कि इस त्रिलोकी को निरन्तर जीवन-तेज से पूरित कर रहे हैं। ब्रह्मचारी अपने शरीर को, अपने मन को, अपनी आत्मा (विज्ञानमय) को तीन समिधाएँ बना कर बृहत् अग्नि (आचार्याग्नि या परमात्माग्नि) में रखता है, उसके अर्पण कर

देता है। इसका फल यह होता है कि उसकी ये तीनों समिधाएँ प्रदीप्त हो जाती हैं—उसके शरीर में वीर्य का तेज आ जाता है, उसका मन ब्रह्म-तेज से समिद्ध हो जाता है, और उसका आत्मा आत्मतेज से सूर्यवत् जाज्वल्यमान, प्रकाशित हो जाता है। शरीर की समिधा से वह स्थूल पृथिवी लोक को तृप्त और परिपूर्ण करता है, मन की दीप्ति से अन्तरिक्ष-लोक लोक को पूरित करता है, और आत्मप्रकाश से द्युलोक को। इस तरह से संसार का प्रत्येक सच्चा ब्रह्मचारी अपने इस सञ्चित, रक्षित, त्रिविध तेज (समिधा) द्वारा इन तीनों लोकों को पालित कर रहा है। हम में से कौन है जिसे इन तेजों के रक्षण की आवश्यकता नहीं है? इन तेजों को गँवा कर हम कैसे जी सकते हैं? अतः आओ, हम सब मनुष्य आज से मेखला को धारण करके कटि-बद्ध हो जायँ और अनवरत श्रम और तप करते हुए यथाशक्ति अपने को इन तेजों से समिद्ध कर लेवें। ब्रह्मचारी जहाँ समिद्ध होने का (तीन समिधाओं का) व्रत लेता है, वह वहाँ मेखला, श्रम, और तप का भी व्रत ग्रहण करता है। मेखला का अर्थ है सदा कटिबद्ध मुस्तैद, तैयार, सावधान रहना; आलस्य, खाली रहने की इच्छा, शिथिलता, प्रमाद ब्रह्मचारी के घोर शत्रु हैं। इसी तरह खूब श्रम करना, शरीर और मन से खूब काम लेकर इन्हें थका देने पर ही विश्राम ग्रहण करना यह ब्रह्मचारी का धर्म है; आराम-पसन्द, कामचोर, मनुष्य के भाग्य में ब्रह्मचर्य का सुख नहीं है। तप करना, सब द्वन्द्वों का सहना, गर्मी सर्दी, भूख प्यास, सुख दुःख आदि को प्रसन्नतापूर्वक सहना यह ब्रह्म-चारी तीसरा परमावश्यक व्रत है। कटिबद्धता श्रम और तप के पालन द्वारा ही ब्रह्मचारी में त्रिविध तेज का (वीर्य का)

रक्षण और संचय होता है और इन्हीं तीन के लगातार अनुष्ठान द्वारा ही ब्रह्मचारी अपने इस तेज का उपयोग करता हुआ लोकों का (त्रिविध संसार का, संसार के लोगों का) पालन पोषण और पूरण करता है। इन्हीं में ब्रह्मचर्य की अपार महिमा का रहस्य है।

शब्दार्थ—

(इयं समित्) यह पहिली समिधा (पृथिवी) पार्थिव-जगत् की; (द्वितीया) दूसरी समिधा (द्यौः) द्युलोक की, आत्मिक-जगत् की, (उत) और वह (समिधा) अपनी तीसरी समिधा द्वारा (अन्तरिक्षं) मध्य के मनोमय अन्तरिक्ष लोक को (पृणाति) पूर्ण करता है। इस प्रकार (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समिधा) समिधा से, त्रिविध दीप्ति से (मेखलया) मेखला से, कटिबद्धता से (श्रमेण) श्रम से और (तपसा) तप से (लोकान्) तीनों लोकों, संसार के सब लोगों को (पिपर्ति) पालित, पोषित और पूरित करता है।

❀ ❀
❀

३१ ज्येष्ठ

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋ० १०.१२१.२॥ यजु० २५ ३२ ॥ अथर्व ४.२.१ ॥

विनय

आओ, हम अपना सर्वार्पण करके भी उस सुखस्वरूप देव को पूजा करें जोकि हमें हमारे आत्मस्वरूप का देने वाला है। हम अपने आप (आत्म) को ही भूलकर भटक रहे हैं; वह हमें अपने इस आप को प्राप्त करा देता है। वही हमें बल भी देता है; अपने को खोकर आत्म-शक्ति-हीन हुए हम लोगों को वही अपनी करुणा से शक्ति भी प्रदान करता जाता है। और जब हम उस सब शक्ति के भण्डार को कुछ अनुभव करने लगते हैं तो हम देखते हैं कि यह सब विश्व उसके आश्रित है, सब प्राणियों को सब कुछ देनेवाला वही है, सब प्राणी उसी के प्रकृष्ट-शासन में रह रहे हैं। जाने या अनजाने सब उसी का आश्रय ग्रहण कर रहे हैं। उसके परिपूर्ण शासन को कोई

उल्लंघन नहीं कर सकता। उसके नियम अटल है। संसार में जो बड़ी से बड़ी शक्तियाँ (देव) काम करती दिखाई दे रही हैं, वे सब उसी की आज्ञा पालन कर रही हैं। उसी की प्रेरणा से प्रेरित पृथ्वी, सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव अपने अपने महान् कार्य ठीक ठीक चला रहे हैं। ऋषि देखते हैं कि मृत्यु भी उसी के भय से उस की आज्ञा में दौड़ता फिर रहा है। अहो! इस मौत से तो यह सम्पूर्ण ही संसार डरता है। सचमुच इस जगत् में जहाँ सुख-भोग हैं, वहाँ इन्हें क्षणिक बनाने वाला दुःख संताप भी जगत् में है और कोई भी ऐसा जन्म पालने वाला नहीं है जो कि मृत्यु का ग्रास न होता हो। देखो, यह "राम की चक्की" संसार में ऐसी चल रही है कि उसमें सब पिसते जा रहे हैं, मरते जा रहे हैं। इस मृत्यु के विकराल कालचक्र को चलाने वाला इसका शासक भी वही है। सब संसार दुःख-पीड़ित, और मौत का मारा हुआ पड़ा है। हे मनुष्यो, यदि तुम उस की इस विकराल भयरूपिणी मृत्यु—देवी से घबरा चुके हो तो यह भी आश्चर्य देखो कि जब मनुष्य उस प्रभु की शरण में आ जाता है तो यही मृत्यु अमृत बन जाती है! उस प्रभु की मंगलमय छाया में कोई संताप नहीं रहता, 'मृत्यु' भी मृत्यु नहीं रहती! आत्मस्वरूप को देकर वह हमें क्षण में अमर कर देता है। आओ, हम उस आत्मस्वरूप को देने वाले की शरण में आकर अमर बन जायँ, उसी से बल की याचना करें जिससे कि हम सदा उसकी छाया में ही सुख से रहने में कृत-कार्य हो जायँ। आओ, हम अपने सब कुछ की हवि चढ़ाकर अपने उस ऐसे सुखस्वरूप देव को प्राप्त करें, निरन्तर इस यज्ञमय भक्ति द्वारा उस प्रभु की परिचर्या करते रहें।

शब्दार्थ—

(यः आत्मदाः) जो आत्मस्वरूप को देने वाला और (बलदाः) शक्ति को देने वाला है। (यस्य विश्व उपासते) सब जिसकी उपासना करते हैं और (यस्य देवाः प्रशिषं [उपासते]) देव भी जिसके प्रशासन के आश्रित हैं—जिसकी सर्वोच्च आज्ञा में चलते हैं। (यस्य छाया अमृतं) जिसकी शरण या आश्रय पाना अमर होना है और (यस्य मृत्युः) जिसकी[जिससे दूर होना ही] मृत्यु है, (कस्मै देवाय) उस "क" [सुखस्वरूप] देव का हम (हविषा विधेम) आत्मत्याग द्वारा पूजन करते हैं।

*

* *

देख कहीं

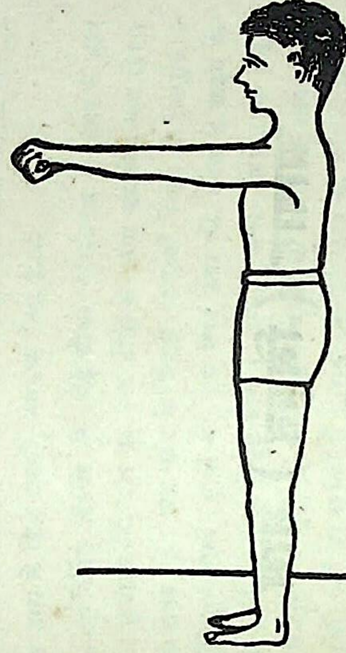
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः

यजुर्वेद १—१

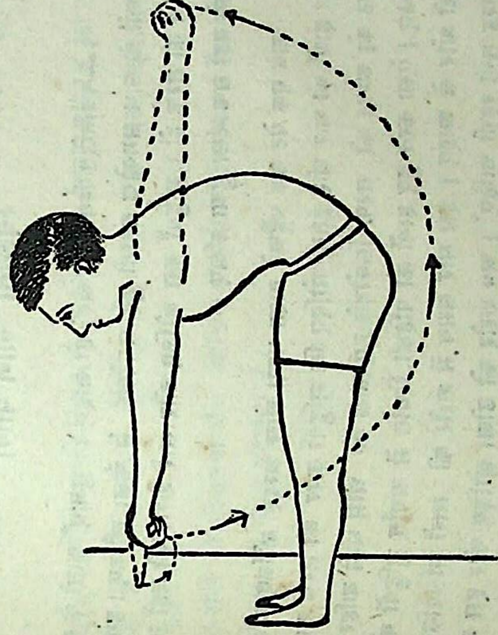
—❀:❀:❀—

चुपके से धन लूटनेवाला और
पाप फैलाने वाला तुझ
पर हकूमत न
करे

आषाढ़ मास



আষাঢ়—১



আষাঢ়—২

आषाढ़ (मिथुन) मास

के लिए

प्राणदायक व्यायाम

छाती, आमाशय और पेट में स्वस्थता लाने वाला

१—पूर्वनिर्दिष्ट स्थिति में खड़े हो जाइए। भुजाएँ छाती के सामने कन्धों के साथ समकोण बनाती हुई समरेखा में फैला लीजिए। हथेलियाँ नीचे की तरफ हों। मुट्ठियाँ कस लीजिए और सारे शरीर को जहाँ तक हो सके वहाँ तक कसा हुआ रखिए।

अब एक पेट तक पहुँचने वाला गहरा श्वास अन्दर लीजिए और साथ ही हाथों को धीरे धीरे इतना मोड़िए कि मुट्ठियाँ ऊपर की तरफ आ जायँ, पेट को अन्दर की तरफ सिकोड़ते हुए श्वास को धीमे धीमे बाहिर निकालिए। ऐसा करते हुए हाथों को पहिली स्थिति में अर्थात् मुट्ठियों को नीचे की ओर ले आइए। इस सारे समय में शरीर की सारी मांसपेशियाँ पूरी तरह तनी रहनी चाहिएँ। अब शरीर को ढीला छोड़िए और इस व्यायाम को फिर फिर कीजिए।

इस मास के लिए दूसरी व्यायाम निम्न है—

२—पूर्वनिर्दिष्ट स्थिति में खड़े होकर कटि-प्रदेश से ऊपर के भाग को इतना झुकाइए कि ऊपर का भाग टाँगों के साथ समकोण बना लेवे। हाथ नीचे लटके रहें। अब कटि के निचले भाग की स्थिति को बिल्कुल न बदलने देते हुए दोनों हाथों को इस तरह ऊपर की तरफ ले जाइए कि उन दोनों हाथों की पीठ [पृष्ठ भाग] कन्धे के ऊपर मिल जाएँ। इस अवस्था में हाथों की मुट्ठियाँ कसी रहनी चाहिए। शरीर की अन्य मांस-पेशियाँ ढीली रखी जा सकती हैं। हाथों को जब ऊपर की ओर ले जा रहें हों तब अन्दर श्वास लीजिए और जब नीचे की ओर ला रहे हों तब श्वास बाहिर निकालिए।

शरीर को ढीला छोड़िए और व्यायाम को फिर फिर कीजिए।

इन दोनों व्यायामों में मन को छाती, आमाशय और पेट पर एकाग्र करना चाहिए और मन में इनको पूर्ण स्वस्थ्य रूप में चित्रित करना चाहिए।

ध्यान— मेरी छाती, आमाशय और पेट बिल्कुल ठीक काम कर रहे हैं और स्वस्थ हैं—इत्यादि प्रकार के शब्द बनाकर ध्यान कीजिए।

इन अंगों को गौणतया चैत्र, आश्विन और पौष मास की प्राणदायक व्यायामों द्वारा भी लाभ पहुँचता है।

*

* *



अश्मन्वती रीयते संरभध्वं, उत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहीमो अशिवा ये असन्, शिवान् वय मुत्तरेमाभिवाजान् ॥

यजु० १५.१०॥ ऋ० १०.५३.८ ॥ अथर्व० १२.२.२६ ॥

विनय

भाइयो, सांसारिकता की नदी बड़े वेग से बह रही है। अपने अभीष्ट सुखों को, सच्चे भोगों को, बलों को हम इस नदी के पार पहुंचकर ही पा सकते हैं। पर हमें बहाएँ लिए जाने वाले विषयों के इस भारी प्रवाह को तर जाना भी आसान कार्य नहीं है। यह नदी बड़ी विकट है। इस में पड़े हुए भोज्य-पदार्थों के बड़े बड़े और फिसलाने वाले चिकने पत्थर हमारे पैरों को जमने नहीं देते हैं। इन शिलाओं की ठोकर खाकर कदम कदम पर गिर पड़ने का डर है, उधर नदी का वेग हमें बहाए लिए जाता है। परन्तु पार बिना पहुँचे हमें सुख, शान्ति भी नहीं मिल

सकती। अतः भाइयो ! उठो, मिलकर एक दूसरे का सहारा देते हुए आगे बढ़ो। हिम्मत करके उठ खड़े होओ और दृढ़ता के साथ प्रबल यत्न करते हुए इस नदी के पार उतर जाओ। पर सबसे बड़ी विपत्ति तो यह है कि पहिले ही पत्थरों वाली और वेगवती इस नदी के पार उतरना इतना मुश्किल हो रहा है, ऊपर से हमने अपने बहुत से 'अशिव' संग्रहों का बोझ भी सिर पर लाद रखा है। भोगेच्छा, कुसंस्कार, अधर्म की वासना तथा पापों के भारी बोझ से हमने अपने को बोझल बना रखा है। इसके कारण हमारा पार उतरना असम्भव होरहा है। आओ साथियो, भाइयो ! पहिले हम इन सब 'अशिव' वस्तुओं को यहीं फेंक देवें। इन्हें छोड़कर हलके हो जाएँ जिससे कि हम नदी उतरने के लिए आसानी से अपनी पूरी शक्ति लगा सकें। जितने शुभ, कल्याणकारी 'वाज' हैं, सच्चे भोग हैं, बल हैं, ज्ञान हैं, वे तो हमारे लिए बहुतायत में नदी के पार विद्यमान हैं; हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। तो हम मूर्ख लोग इन 'अशिव' वस्तुओं को किस लिए उठाए हुए हैं ? यह बोझ तो हमें डुबा देने में ही सहायक होगा। यदि इस बोझ के साथ हम स्वयं डूब मरना या नदी में प्रवाहित हो जाना नहीं चाहते तो हमें इन सब बुराइयों का तो यहीं नदी-प्रवाह कर देना चाहिए। इन 'अशिव' संग्रहों के बोझसे छुटकारा पाकर हमें एक दूसरे को सहारा देते हुए आगे बढ़ना चाहिए। विषयों के प्रबल प्रवाह से बचने के लिए हम सबको परस्पर एक दूसरे के 'संरम्भ' (आश्रय) की जरूरत है। अतः आओ, हम सब मनुष्य-समाज के भाई उठें, हिम्मत करें, इन कूड़े की गठरियों को फेंक देवें और एक दूसरे की मदद करते हुए एक बार इस भयंकर नदी के पार उतर जाएँ तो हम देखेंगे

कि जिस स्वर्ग की हमें चाह थी, जिन मंगलकारी ज्ञानों और बलों की हम में कमी थी, वे सब वहाँ विद्यमान हैं।

हे कल्याण चाहने वालो, यह नदी चाहे कितनी विकट हो, पर इसे बिना पार किए और कुछ चारा नहीं है।

शब्दार्थ—

(अश्मन्वती) पत्थरों, शिलाओं वाली नदी (रीयते) वेग से बह रही है। (सखायः) हे साथियो, मित्रो ! (उत्तिष्ठत) उठो, (संरभध्वं) मिल कर एक दूसरे को सहारा दो और (प्र तरत) इस नदी को प्रबलता से तर जाओ। आओ, (ये अशिवाः असन्) जो हमारे अकल्याणकर संग्रह हैं उन्हें हम (अत्र जहीमः) यहीं छोड़ देवें और (शिवान् वाजान् अभि) कल्याणकारी सुखों, बलों और ज्ञानों को पाने के लिए (वयं) हम (उत्तरेम) इस नदी के पार हो जायँ।

❀

❀ ❀

२ आषाढ़

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति, यो निलायं चरित यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ सन्निषद्य यन्मंत्रयेते, राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः ॥

अथर्व० ४.१६. २ ॥

विनय

पाप से वास्तव में डरने वाले मनुष्य संसार में विरले ही होते हैं। आम तौर से तो लोग पाप करने से नहीं डरते किन्तु पापी समझे जाने से डरते हैं। जहाँ कोई देखने वाला न हो वहाँ अपने कर्तव्य से विमुख हो जाना, कोई पाप कर लेना, साधारण बात है। पाप व अपराध कर्म से बचने की कोई कोशिश नहीं करता; कोशिश तो इस बात की होती है कि हम वैसा करते हुए कहीं पकड़े न जायँ। यही कारण है कि मनुष्य अपने बहुत से कार्य छिप कर अकेले में करने को प्रवृत्त होता है। परन्तु यदि उसे इस संसार के सच्चे एक मात्र राजा वरुणदेव की ख़बर हो तो वह ऐसे घोर अज्ञान में न रहे। यदि उसे

मालूम हो कि वे जगत् के ईश्वर वरुण भगवान् सर्वव्यापक और सर्वद्रष्टा हैं तो वह पाप के आचरण करने से डरने लगे; वह एकान्त में भी कभी पाप में प्रवृत्त न हो सके। सचमुच हम बड़े धोके में हैं यदि हम समझते हैं कि हम कोई काम गुप्त तौर पर कर सकते हैं। उस सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक वरुण से तो कुछ भी छिपा कर करना असंभव है। जब हम दो आदमी कोई गुप्त मंत्रणा करने के लिए किसी अन्धेरी से अन्धेरी कोठरी में जाकर बैठते हैं और सलाहें करने लगते हैं तो यद्यपि हम समझ रहे होते हैं कि हम दोनों के सिवाय संसार में और कोई इन बातों को नहीं जानता तथापि इन सब बातों को वह वरुण देव वहीं तीसरा होकर बैठा हुआ सुन रहा होता है। यदि हम वहाँ से उठकर किसी किले में जा बैठें, या किसी सर्वथा निर्जन बन में पहुँच जायँ तो वहाँ पर भी वह वरुणदेव तो तीसरा साक्षी होकर पहिले से बैठा हुआ होता है। उस से छिपा कर हम कुछ नहीं कर सकते हैं। यदि हम दूसरे किसी आदमी को भी कुछ नहीं बताते, केवल अपने ही मन में कुछ सोचते हैं, तो वह वरुण तो उसे भी जानता है, सब सुनता है। हमारे चलने या ठहरने को हमारी छोटी से छोटी हरकत को, वह जानता है। हम दूसरों को धोखा देते हैं, ठग लेते हैं और समझते हैं कि इसका किसी को पता नहीं लगा, तब हम खुद कितने भारी धोखे में आए होते हैं, क्योंकि उस वरुण को तो सब कुछ पता होता है और हमें उसका फल भोगना पड़ता है। इसी तरह हम जो कुछ छिप कर करते हैं, दूसरों से द्रोह कर उन्हें नाना कष्ट व पीड़ाएँ पहुँचाते हैं, उन्हें बेशक कोई दूसरा मनुष्य न जानता हो किन्तु जो उन पापों का असली दंड देने

वाला हमारा राजा वरुण है वह तो सब प्रत्यक्ष देख रहा होता है। ओह! मनुष्य केवल यदि उस वरुण राजा की सर्वत्र व्यापकता को और सर्वदर्शिता को जान जाय—सचमुच जान जाय— तो वह एक ही दिन में धर्मात्मा, निष्पाप हो जाय।

शब्दार्थ—

(यः तिष्ठति, चरति) जो मनुष्य खड़ा है, या चलता है, (यः च वञ्चति) जो दूसरों को ठगता है (यः निलयं चरति) जो छिप कर कुछ करतूत करता है (यः प्रतङ्कं [चरति]) जो दूसरों को भारी कष्ट आदि देकर अत्याचार करता है और (द्वौ सन्निपद्य) जब दो आदमी मिलकर, एक साथ बैठकर, (यत् मंत्रयेते) जो कुछ गुप्त. मंत्रणाएँ करते हैं (तत्) उसे भी (तृतीयः) तीसरा होकर (वरुणः राजा) सर्वश्रेष्ठ सच्चा राजा परमेश्वर (वेद) जानता है।

* *
*

३ आषाढ़

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तात्, न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिवःस्पशःप्रचरन्तीदमस्य, सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥

अथर्व० ४.१६.४॥

विनय

एक राष्ट्र (रियासत) के राजद्रोह का अपराधी भी उस के दंड से किसी दूसरे राष्ट्र में भाग जाकर बच सकता है। परन्तु इस संसार के परिपूर्ण राजा—पापनिवारक सच्चे राजा—वरुण का अपराध करके, इस संसार के अटल नियमों का भंग करके अर्थात् झूठ, द्रोह, हिंसा आदि करके, यदि कोई चाहे कि हम कहीं भाग जाकर इनके प्राप्तव्य प्रतिफलों से बच जायँ तो यह असम्भव है। वरुण राजा के राज्य के बाहिर मनुष्य कभी भी नहीं जा सकता। इस विस्तृत, दुर्गम, विशाल भूतल के किसी भी प्रदेश में ही नहीं, किन्तु वह हो सके तो चाहे मंगल, शुक्र आदि किसी अन्य लोक में भी चला जावे और यदि सम्भव हो तो चाहे वह इस सौर—मण्डल (दिवः) से भी

परे कहीं जा पहुँचे, तो भी वही वरुण राजा के राज्य के पार नहीं जा सकता। वह चाहे कहीं चला जाय, अपना प्राप्तव्य दंड उसे ज़रूर भोगना पड़ेगा, अपने किये हुए कर्म के बन्धन से वह कहीं भी जाकर नहीं छूट सकता। ये दुनियावी राजाओं (राजा कहलाने वालों) के गुप्तचर तो हमारे जैसे अज्ञानी मनुष्य ही होते हैं, उन्हें बहुत धोखे दिये जा सकते हैं और वे असंख्यों भ्रमों के भाजन होते हैं, परन्तु उस वरुण राजा के दिव्य गुप्तचरों से मनुष्य कभी बच नहीं सकता। वे सब कुछ जान लेने में समर्थ होते हैं। वे इस ब्रह्माण्ड भर में सर्वत्र व्यापक हुए हुए हैं। वे उस स्वयं-प्रकाश वरुणदेवरूपी सूर्य की अनन्त किरणें बनकर सब ब्रह्माण्ड में फैले हुए हैं। वे उसकी ज्ञानशक्तियों के रूप में हैं। अतः हम मनुष्य जब किन्हीं ईश्वरीय नियमों का उल्लङ्घन करते हैं (शरीर से, वाणी या मन के मनन से भी मन में कोई भी अनिष्ट आचरण करते हैं) तो उसी क्षण, उसी स्थान पर ये दिव्य वरुण-दूत हमें जान लेते हैं, बल्कि हमें अपने अदृश्य पाशों से तत्काल बाँध भी लेते हैं, पर हमें कुछ मालूम नहीं होता। वरुण के 'स्पशों' (चरों) का यह कमाल देखो! यह परम गुप्तचरता देखो! वे हज़ारों आँखों वाले, असंख्यों प्रकार से देखनें वाले 'स्पश', देशकाल आदि के सब व्यवधानों को अतिक्रमण करके सब ठीक ठीक देखते हुए ब्रह्माण्ड भर में विचर रहे हैं और नियम भंग होते ही हमें बाँध रहे हैं तथा इस तरह बाँध रहे हैं कि हमारा वह बंधन (पाश) तब तक नहीं टूटता जब तक कि हम उसके प्रतिफल को भोग नहीं चुकते। वरुण राजा की ऐसी परिपूर्ण राज्य-व्यवस्था है। हे मनुष्य भाइयों! यदि हम उस अपने पाप-निवारक राजा की इस अटल

व्यवस्था को समझ जायँ, सचमुच जान जायँ, तो इतने से ही हमारे सब पाप निवृत्त हो जायँ।

शब्दार्थ—

(यः उत) जो भी कोई जीव (द्यां अति) द्युलोक को पार करके (परस्तात्) उससे भी परे (सर्पात्) चला जाय (स) वह भी (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा से (न मुच्यातै) मुक्त नहीं हो सकता, बच नहीं सकता। (दिव्यः अस्य) प्रकाश-स्वरूप इस वरुण के (स्पशः) गुप्तचर (इदं) इस सब ब्रह्माण्ड में (प्र चरन्ति) अच्छी तरह घूम रहे हैं जो (सहस्राक्षाः) हज़ारों आँखों वाले होकर (भूमिं) इस भूमि को (अतिपश्यति) अतिक्रमण करके देख रहे हैं—जिसे अन्य नहीं देख सकते उसे भी देख रहे हैं।

* *
*

४ आषाढ़

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः, सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः ।
तिस्रो वाचो निहितारन्तरस्मिन्, तासामेका वि पपातानु घोषम् ॥

अथर्व० ७.४३. १ ॥

विनय

हे मनुष्य, जो तू वाणियाँ बोला करता है, उनमें कुछ तेरा कल्याण करने वाली होती हैं और कुछ अकल्याण करने वाली। जो वाणियाँ सच्ची और प्यारी होती हैं, जो दूसरों के हित के लिए, लाभ पहुँचाने के लिए, सत्य फैलाने के लिए बोली जाती हैं वे कल्याणकारिणी होती हैं और जिन वाणियों को तू छल कपटपूर्वक, द्वेष व क्रोध के साथ, दूसरे की हानि पहुंचाने के लिए बोलता है उनसे तेरा भारी अकल्याण होता है। पर तू वाणियों के इस महान् भेद को न समझता हुआ इन सब प्रकार की वाणियों को बोलता जाता है—अच्छी बुरी दोनों वाणियों

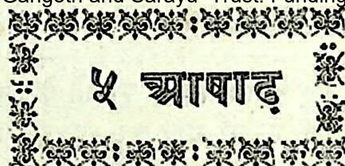
को एक ही प्रकार प्रसन्नतापूर्वक बेखटके बोलता जाता है। तू शायद समझता है कि तेरे बोले हुए शब्दों का जो कि उसी समय नष्ट होते दीखते हैं, तुझ पर कुछ असर नहीं होता या नहीं हो सकता। पर तुझे पता नहीं कि तू वाणी को केवल बोलता नहीं है किन्तु उसे धारण भी करता है। तू जो शब्द रूप में बोलता है वह तो वाणी का एक भाग (एक चौथाई भाग) है; उस वाणी के शेष तीन भाग तो तेरे अन्दर छिपे पड़े हुए होते हैं, तुझ में धरे हुए होते हैं। जो अभिप्राय तू शब्दों में (इस चौथी वैखरी वाणी में) बोलता है, वह अभिप्राय तेरे मन में (तीसरी मध्यमा वाणी के रूप में) समाया रहता है और मनमें -बोले जाने से भी पूर्व वह अभिप्राय तेरे अन्दर साकार व निरा-कार ज्ञान के रूप में रहता है (जिन्हें कि क्रमशः दूसरा और पहली, पश्यन्ती और परा वाणी कहते हैं)। एवं तेरी अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की वाणी तेरे अन्दर अपने तीन पाद धरे रहती है और चौथे पाद में वह बाहिर शब्दरूप में दीखती है। यह शब्द रूप चौथाई वाणी चाहे तुझे अपने पर कुछ असर कर सकने वाली न दीखती हो, पर वाणी के इस समूचे रूप पर—वाणी के अन्दर के इन तीनों रूपों पर—भी जब तू ध्यान देगा तो तुझे दीखेगा कि सच्ची कल्याणकारिणी वाणी तुझ में परा, पश्यन्ती और मध्यमा रूप में ठहरी हुई तुझ पर कितना कल्याणकारी प्रभाव कर रही है और बुरे अभिप्राय से परा, पश्यन्ति और मध्यमारूत में धारण की हुई अकल्याणकारी वाणी अन्दर अन्दर से तेरा कितना भारी अकल्याण कर रही है। अन्दर धारण किए वाणी के इन तीन रूपों द्वारा ही मनुष्य का उस उस वाणी के कारण कल्याण या अकल्याण (पुण्य या

पाप) हो रहा है, यह चौथा बैखरी रूप तो केवल अन्दर के इन तीन रूपों का ही स्थूल प्रकाश मात्र कर रहा है। जो हमें बना या बिगाड़ रही हैं वह तो हमारे अन्दर छिपी हुई ये तीन वाणियाँ हैं।

शब्दार्थ—

हे मनुष्य ! (ते) तेरी (एकाः) एक (शिवाः) कल्याणकारिणी वाणियाँ हैं (ते एकाः अशिवाः) और एक अकल्याणकारिणी हैं, परतू (सर्वाः) उन सब को (सुमनस्यमानः) प्रसन्न चित्त से (बिभर्षि) धारण करता है। वाणी के (तिस्रः वाचः) तीन भाग (अस्मिन् अन्तः निहिता) तेरे इस देह के अन्दर छिपे रखे हैं (तासां एका) उनका एक हिस्सा ही (घोषं अनु) शब्द व आवाज़ के रूप में (निपपात) बाहिर निकलता है।





अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्, तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणश्च लोकाः, सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम॥

अथर्व० ६. ११७. ३॥

विनय

मनुष्य तो जन्म से ही कुछ ऊँचे ऋणों से बँधा हुआ है। मनुष्य उत्पन्न होते ही ऋणी है और उन वास्तविक ऋणों से मुक्त होना ही मनुष्य-जीवन की इति-कर्तव्यता है। मनुष्य ने संसार के तीनों लोकों को भोगने के लिए जो तीन शरीर पाये हैं, उसी से वह तीन प्रकार से ऋणी है। हे प्रभो, हम चाहें पितृयाण मार्ग के यात्री हों या देवयान के, हम तीनों लोकों की अनृणता करते हुए ही रहें। हम अपनी सब शक्ति और सब यत्न इन ऋणों को उतारने में ही व्यय करते हुए जीवन बितावें। इस स्थूल भूलोक का ऋण अन्यों को भौतिक सुख देने से, तथा समाज को कोई अपने से श्रेष्ठतर भौतिक संतान दे जाने से उतरता है। इसी तरह मनुष्यों का जगत् की प्राकृतिक अग्नि आदि शक्तियों से तथा साथी मनुष्यों की निःस्वार्थ सेवाओं से जो सुख निरन्तर मिल रहा है उसके ऋण को उतारने के लिए, इन यज्ञ-चक्रों को जारी रखने के निमित्त उसे यज्ञकर्म करना भी आवश्यक। और तीसरे ज्ञान के लोक से मनुष्य को जो ज्ञान का परम लाभ हो रहा है उसकी संतति भी जारी रखने के लिए स्वयं विद्या का स्वाध्याय और प्रवचन करके उससे उसे उऋण होना चाहिए। जो त्यागी लोग सांसारिक-भोग की कामना नहीं

करते अतएव जिन्हें ये तीन ऋण इस तरह नहीं बाँधते, उन ब्रह्मचर्य, तप श्रद्धा के मार्ग से चलने वाले देवयान के यात्रियों को भी अपने तीनों शरीरों के उपयोग लेने का ऋण चुकता करना चाहिए अर्थात् अपने भौतिक शरीर से वे वेशक सन्तान उत्पन्न करना आदि न करेंगे पर उस द्वारा सेवा के अन्य स्थूल कर्म उन्हें करने ही चाहिएँ और अपने प्राण व मन के दूसरे शरीर से प्रेम दया आदि की धाराएँ बहानी चाहिएँ तथा द्युलोक सम्बन्धी तीसरे विज्ञानमय शरीर द्वारा ज्ञान-सूर्य बनकर ज्ञान की किरणें प्रसारित करते हुए तीसरे लोक में भी अनृण होना चाहिए।

ओह! मनुष्य तो सर्वदा ऋणों से लदा हुआ है! जो जीव इस त्रिविध शरीर को पाकर भी अपने को ऋणबद्ध नहीं अनुभव करता वह कितना अज्ञानी है! हमें तो, हे स्वामी! ऐसी बुद्धि और शक्ति दो कि हम चाहे देवयानी हों या पितृयानी, हम सब लोकों में रहते हुए, सब मार्गों पर चलते हुए, लगातार अनृण होते जावें। अगले लोक में पहुँचाने से पहिले पूर्वलोक के ऋण हम अवश्य पूरा कर देवें और अगले मार्ग पर जाते हुए पिछले मार्ग के ऋण उतार चुके हों। इस तरह लगातार घोर यत्न करते हुए हम सदा, सब लोकों में अनृण होकर ही रहें।

हे प्रभो, हमें अनृण रखो, हमें अनृण करो।

शब्दार्थ—

(अस्मिन् अनृणाः) इस लोक में हम अनृण होवें, (परस्मिन् अनृणाः) परले लोक में अनृण हों और (तृतीये लोके अनृणाः स्याम) तीसरे लोक में भी अनृण होवें। (ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः) जो देवयान या पितृयान मार्गों के लोक हैं उनमें (सर्वान् पथः) सब मार्ग चलते हुए हम (अनृणाः आ क्षियेम) ऋणमुक्त होकर रहें, बसें।

६ आषाढ़

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षात्, अपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने, छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ॥

अथर्व० ६.१२४.१॥

विनय

हे महान् प्रभु ! हम स्वल्प मनुष्य अपनी तुच्छ कामनाओं को यूँ ही इतना भारी समझा करते हैं। हम मनुष्यों को जिस समय जो कामना होती है, उसे हम इतना अधिक महत्व देते हैं कि हम समझते हैं यदि हमारी वह इच्छा पूरी न हुई तो हम मर जाएँगे और यदि पूरी हो गई तो सदा के लिए उससे निहाल हो जाएँगे—मानों फिर हमें कुछ कामना ही न रहेगी। परन्तु हम अपनी इच्छाओं को इतना महत्व इसीलिए देते हैं क्योंकि हम तुम्हारे अनन्त महत्व को अनुभव नहीं करते। हम यह अनुभव नहीं करते कि तुम तो जल के अपार समुद्र हो और हमारी प्रबल से प्रबल प्यास को (जिसके मारे हम मरे जाते हों) एक लुटिया भर पानी से बुझा सकते हो। नहीं, तुम तो कामनाओं के बरसाने वाले, सब तरफ फैले हुए असीम अन्तरिक्ष हो, और तुम हमें अपनी इस अनन्त वृष्टि में से केवल एक बूँद ही देकर तृप्त कर सकते हो—छका सकते हो। तुम्हारे दिव्य-ज्ञानमय बृहत् आकाशसे बरसने वाले ज्ञान-बिन्दुओं मेंसे एक बूंद में ही वह रस है, वह शक्ति है कि हम उस ज्ञानबिन्दु को ही पाकर परितृप्त हो जाते हैं। हे प्रभु ! मुझे न जाने कितनी कामनाएँ थीं, मुझे अपने में न्यूनताएँ ही न्यूनताएँ दिखलायी देती

थीं और मैं समझता था कि मेरी यह न्यूनताएं पूरा यत्न करते हुए भी कई जन्मों में पूर्ण न होंगी। पर, हे पिता! मैं क्या बताऊँ, तेरे ज्ञानप्रकाशमय दिव्य अन्तरिक्ष से मुझ पर तेरी एक ही बूँद गिरी, पर उसमें वह रस था कि तेरे शक्तिगण द्वारा मुझ में इन्द्रिय (इन्द्रवीर्य = आत्मशक्ति) जाग गयी, मुझको स्थिर पोषक रस मिल गया, मुझमें छन्दोबद्ध दिव्यज्ञान प्रकट होने लगा, मुझे यज्ञों का दर्शन होने लगा (अर्थात् मुझे किस समय किस प्रकारसे आत्मत्यागमय शुभ कर्म करना चाहिए,यह भासित होने लगा) और पुण्यों द्वारा जिस सुख का अर्जन संसार करना चाहता है वह सुख भी मेरा साथी होगया। इतनी सब वस्तुएँ मुझे इकट्ठी मिल गईं। लोगों को इस पर सहज ही विश्वास न होगा, पर यह सच है। सचमुच तेरे ज्ञान-भंडार का एक ज्ञान-कण, तेरे बलराशि का अणु, इस तुच्छ मनुष्य को सर्वथा भरपूर कर देता है। मनुष्यों की जन्मजन्मान्तरों की भारी भारी कामनाएँ एक क्षण में तेरे एक स्वल्प दान बिन्दु द्वारा परिपूर्ण हो जाती हैं, केवल हम तेरी महिमा को नहीं पहिचानते।

शब्दार्थ—

(दिवः) तेरे ज्ञानप्रकाशमय द्युलोक रूपी (बृहतः अन्तरिक्षात् तु) महान् अन्तरिक्ष से ही (अपां स्तोकः) तेरे ज्ञान कर्म शक्तिरूप जलों का एक स्वल्पकण (रसेन) अपने तृप्तिदायक रस से युक्त (मां अभि) मुझ पर (अपप्तत्) गिरा; और (अहं) मैं (अग्ने) हे परमेश्वर! तेरे इस स्वल्प जलकण द्वारा (इन्द्रियेण) इन्द्रवीर्य = आत्म-बल से (पयसा) पोषक ज्ञान से (छन्दोभिः) वेदमन्त्रों से (यज्ञैः) यज्ञों से, शुभकर्मों से और (सुकृतां कृतेन) पुण्य कर्मों के फल अर्थात् सुख से (सं) संयुक्त हो गया हूँ।

७ आषाढ़

सहस्राह्ण्यं वियतौ अस्य पक्षौ, हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य, संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥

अथर्व० १०.८.१८ ॥

विनय

मनुष्य प्रतिक्षण चेष्टायमान है। जीव को दिनरात किसी न किसी अभीष्ट के पान की चाह या किसी दुःख को हटाने की चाह लगी रहती है और उसके लिए वह सदा कुछ न कुछ करता रहता है। जीव को तब तक चैन नहीं मिल सकता जब तक कि वह उस अवस्था में न पहुँच जाए जहाँ उसे कुछ कमी न रहेगी, जहाँ उसकी सब कामनाएं प्राप्त हो जाएँगी, सब दुःख समाप्त हो जाएँगे। उस स्वर्गलोक को पाने के लिए यह 'हरि' (इधर उधर फिरने वाला) हंस न जाने कब से उड़ रहा है। यह अपने अभीष्ट लोक को कब पहुँचेगा ? यह लगातार ज्ञान और कर्म के सहारे से उस स्वर्ग को न जाने कब से ढूँढ रहा है ? सुख-प्राप्ति के विषय में उसे जो ज्ञान मिलता है उसके अनुसार वह कम करता है, कर्म करने के बाद उसे कुछ अन्य नया अनुभव (ज्ञान) मिलता है, तो वह फिर उसके अनुसार कर्म करता है। इस तरह यह हंस अपने ज्ञान और कर्म (अन्दर से बाहिर की तरफ चेष्टा और बाहिर से अन्दर की तरफ चेष्टा; प्राण और अपान) के पंखों को हिलाता हुआ उड़ा चला जा रहा है। हजारों दिन बीत

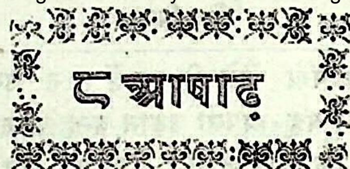
गए हैं पर उसके पंख फैले ही हुए हैं। न उसे अभीष्ट स्वर्ग मिलता है और न वह अपनी उड़ान बन्द करता है। पर मज़ेदार बात यह है कि स्वर्ग के सब देवों को, सब देव-गुणों को—अजरत्व, अमरत्व, निष्कामत्व, पूर्णत्व आदि सब देवत्वों को—अपने हृदय में लिए हुए फिर रहा है। वह लाखों योनियों में, लोकों में नाना देशों में, उड़ रहा है। इस जगत् की सब उत्पन्न वस्तुओं, सब भुवनों, को देखता हुआ जा रहा है। पर सब देश उसके हृदय में ही स्थित हैं। अतः उसे जब कभी स्वर्ग की प्राप्ति होगी, तब उसे अपने हृदय में ही होगी। पर तब तक वह असंख्यातों स्थानों में, प्रभु की इस अगम्य सृष्टि के करोड़ों भुवनों को देखता हुआ विचर रहा है, चौबीसों घंटे ज्ञान और कर्म की कुछ न कुछ चेष्टा करता हुआ स्वर्ग को ढूंढ रहा है, अपने इन पंखों को फड़फड़ाता हुआ निरन्तर गति ही कर रहा है। ओह! यह कब अपने लक्ष्य पर पहुँचेगा! किस दिन अपने पंखों को समेट कर बैठेगा! इसके पंख तो हज़ारों हज़ारों दिनों से खुले हुए हैं!!

शब्दार्थ—

(स्वर्गं पततः) स्वर्ग को जाते हुए (अस्य) इस (हरेः हंसस्य) ह्रियमाण या हरणशील१ जीवात्मा हंस के (पक्षौ) पंख (सहस्राह्ण्यं) सहस्रों दिनों से (वियतौ) खुले हुए हैं, फैले हुए हैं (सः) वह हंस (सर्वान् देवान्) सब देवों को (उरसि) अपने हृदय में (उपदद्य) लिए हुए (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों को (सं पश्यन्) देखता हुआ (याति) जा रहा है।

१—हरय इति मनुष्य नामसु पठितम्।

हरिः = भोगों को हरण करने वाला या इधर उधर ह्रियमाण।



या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टा, अभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धाः, हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥

अथर्व० ७. ११५. २॥

विनय

हे जगदीश्वर ! मेरे पास जो ऐसी लक्ष्मी पड़ी हुई है जो कि 'अजुष्टा' है जो कि सेवित नहीं होती, जो कि किसी की प्रीतिमय सेवा में नहीं आती, वह किस काम की है ? वह लक्ष्मी 'लक्ष्मी' नहीं है। वह लक्ष्मी दुराचार बढ़ाने का कारण होती है। 'अजुष्टा' लक्ष्मी पतन का भारी प्रलोभन होती है। ऐसा धन बुरे कार्यों में ही बरबाद हुआ करता है और मनुष्य को नीचे गिरा देता है। ऐसी लक्ष्मी को मैं मोह के मारे त्यागता (परहित में दे देना) भी नहीं हूँ और उस सबका स्वयं उपयोग भी नहीं कर सकता हूं। इसलिए वह या तो बुरे काम में पतित हो जाती है या यूँही सड़कर नष्ट हो जाती है। पर सब से बुरी बात तो यह है कि यह मेरी ऐसी 'लक्ष्मी' मुझे चिमटी हुई हर तरह मुझे ही बरबाद करती है, मेरे जीवन-रस को चूसती है। अतः, हे मेरे प्रेरक प्रभो, मुझमें ऐसी हिम्मत दो कि मैं उस लक्ष्मी को—इससे पहले कि वह पतित होने लगे और मुझे विनष्ट करने लगे—मैं उसे अन्यत्र धारित कर दूँ—किसी अच्छे कार्य में लगा दूँ, उसे अपने पर लादे न रखूँ। हे सवितः ! तुम ही उस दुर्लक्ष्मी को यहाँ से तो हटा दो। यह 'लक्ष्मी' नहीं है, किन्तु वह मेरे लिए विनाशक शापरूप है। वह मुझ पर मोह द्वारा चिमटी हुई केवल

मेरे जीवन-रस को सुखा रही है, जैसे वन्दना बेल जिस वृक्ष पर लगती है उस वृक्ष को बिल्कुल सुखा देती है, वैसे ही यह अजुष्टा लक्ष्मी मुझे घेरे हुए है, मेरा विनाश कर डालने के लिये मुझे आच्छादित किये हुए है। हे प्रभो! तुम इससे मुझे छुड़ाओ। मेरे मोह का भङ्ग करके इसे यहां से हटाने का मुझे सामर्थ्य दो, नहीं तो यह 'अजुष्टा' लक्ष्मी मुझे चूस कर खतम कर रही है,—मेरी उन्नति को रोक रही है, मेरे आत्म-तेज को हरती जा रही है।

हे प्रेरक! मेरी प्रार्थना है कि आगे से ऐसा धन तो मेरे पास आने ही न पावे। मुझे तुम बेशक थोड़ा सा धन देना, पर वह धन चमकता हुआ, तेजस्वी, निष्कलङ्क हो, हिरण्य हो, हितरमण हो। वह धन सर्वांश में उपयोगी हो, उसका एक एक अंश मेरे तेज, मेरे आत्मवीर्य को बढ़ाने वाला हो। तुम्हारे 'हिरण्यहस्त' से ही अब मैं धन चाहता हूं। तेरे चमकते हुए 'हिरण्यहस्ते' से अब मुझे सदा ऐसा तेजस्वी धन मिलता रहे जिस का कि एक एक कण मेरे आत्मतेज को बढ़ाने में व्यय हो तथा वह अन्यत्र भी जहाँ जाए वहाँ मनुष्यों के तेज के बढ़ाने में ही उपयुक्त होवे।

शब्दार्थ—

(अजुष्टा) असेविता, काम में न आने वाली (पतयालूः) अतएव दुराचार में गिरने वाली, मुझे गिराने वाली (या) जो (लक्ष्मीः) लक्ष्मी (मा) मुझे (अभि चस्कन्द) चिमटी हुई है (वृक्षं वन्दना इव) जैसे कि सुखा देने वाली वन्दना बेल वृक्ष को चिमट जाती (तां) उस ऐसी लक्ष्मी को (सवितः) हे प्रेरक परमेश्वर! (अस्मत् इतः अन्यत्र) तू हमसे, यहाँ से जुदा (धाः) रख दे—कर दे (हिरण्य-हस्तः) हिरण्यहस्त से—तेजस्वी चमकते हाथ से तू (नः) हमें (वसु) ऐश्वर्य (रराणः) देता हुआ हो।

६ आषाढ़

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभूः, रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः, आत्मनं धीरमजरं युवानम् ॥

अथर्व० १०.८.४४ ॥

विनय

हे मृत्यु-भय से तर जाना चाहने वाले मुमुक्षु, तू उस एक सर्वव्यापक तत्त्वको देख जोकि सर्वथा 'अकाम' है, जिस में किसी प्रकार भी कोई कामना नहीं; अतएव जो कभी भी चलायमान नहीं होता, सदा सर्वथा धीर है; जोकि कभी न मरेगा और न कभी पैदा हुआ है; जो स्वयं ही अपने आधार से सदा विद्यमान है, जिसे कि कभी किसी अन्य ने जन्म नहीं दिया, जिस सदातन की सत्ता किसी अन्य के आश्रित नहीं अतएव जिसकी अमृत

सत्ता कभी खण्डित भी नहीं हो सकती, विनाश को नहीं प्राप्त हो सकती; जो कि आनन्दरस से सर्वथा परिपूर्ण है, हम लोग आनन्ददायक भोजन को यथेष्ट खाकर जैसे कुछ देर के लिए छके हुए, परितृप्ति को अवस्था में रहते हैं वैसी ही आप्यायित अवस्था में जो सदा, त्रिकाल में रहता है, जो कि आप्तकाम है; जिसमें कोई किसी प्रकार की भी कमी, न्यूनता, अपेक्षा व आवश्यकता नहीं है, जो सर्वथा परिपूर्ण है, अखण्ड है, अतएव जो अकाम हुआ है उसे देख, उस एक तत्व को देख, उसे पहिचान। उस तत्व को अपने अन्दर खोज, अपने अन्दर पहिचान। वह दीखता है कि नहीं ? क्या तू अपने आपको वैसा अजर, अमर तत्व नहीं देखता ? जब तू अपने आपको अचलायमान, कभी बुड्ढा न होनेवाला, एकरस, नित्य, हमेशा एक समान युवा (जवान) देख लेगा, तभी—केवल तभी—तू मृत्युभय से पार होवेगा। उस सच्चे आत्म-स्वरूप को देख लेने के बाद तू शरीर नहीं रहेगा। तब तू वही धीर, अजर, अमर, तत्व हो जायगा। तब मृत्यु कहाँ रहेगी ? तब तो जीने मरने में कोई भेद नहीं रहता, जीवन मरण दोनों ही जीवन हो जाते हैं, एक नए प्रकार का नित्य जीवन हो जाते हैं। हजारों मृत्युओं के बीच में भी आत्मा अपनी अमरता को घोषित करता है। परन्तु जब तक इस आत्म-स्वरूप का साक्षात् न हो जाय, मनुष्य अपने देह से बिल्कुल जुदा अपने आपको अजर अमर न देख ले, तब तक मृत्यु-भय नहीं जा सकता। मृत्यु से निर्भय होने का संसार में अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं। जब तक मनुष्य ने यह आत्म-स्वरूप न पा लिया हो तबतक वह चाहे जितना विद्वान्, हजारों ग्रन्थों का पढ़ने पढ़ाने और बनाने वाला हो जाय, उपदेष्टा हो जाय पर वह उसी तरह मृत्यु का मारा हुआ फिरता है जैसे कि

एक चींटी या एक खटमल मरण-त्रास से डरकर भागती है। देखो वह अखंड, एकरस सर्वथा अकाम, अचल, अमर, अभय नित्यतत्त्व। यदि मृत्यु को जीतना है तो देखोः—यह धीर, अजर, अमृता अपना आत्मा। तब मृत्यु कहाँ है? मरना कैसा! अरे, मरना कैसा!!

शब्दार्थ—

जो (अकामः) सर्वथा कामना-रहित (धीरः) धीर (अमृत) कभी न मरने वाला (स्वयंभूः) स्वयं अपने आधार से सदा विद्यमान (रसेन तृप्तः) आनन्द-रस से परितृप्त (कुतश्चन न ऊनः) तथा किसी प्रकार की कोई भी न्यूनता न रखने वाला है। (तं) उस (धीरं, अजरं, युवानं, आत्मानं एव विद्वान्) धीर, अजर, सदा तरुण को आत्मस्वरूप जानकर ही मनुष्य (मृत्योः न बिभाय) मृत्यु से नहीं डरता—मृत्यु से निर्भय हो जाता है।

❀ ❀
❀

१० आषाढ़

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्राः, याभिः सत्यं भवति यद् वृणोषे।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्व, अन्यत्र पापीरपवेशया धियः॥
अथर्व० ९.२.२५॥

विनय

हे काम ! हे संकल्पमय देव ! भगवान् तुम द्वारा ही अपनी कामनाक्रिया करते हुए सब जगत् को उत्पन्न करते और चलाते हैं। हे जगत् व्यापक संकल्प ! हम मनुष्यों में जो असंख्यात इच्छाएँ, कामनाएं, संकल्प उठा करते हैं, वे भी सब असल में तुम्हारी ही तरंगे हैं, तुम्हारे ही असंख्यात रूप हैं। पर जो तुम हममें अनगिनत रूप धारण करके प्रकट होते हो, जो हम में अनगिनत इच्छाएँ प्रकट होती हैं, उनमें से हम देखते हैं कि कुछ तो पूर्ण

हो जाती हैं, सच हो जाती हैं और बहुत सी अपूर्ण रहकर केवल हमें दुःखी ही करने का कारण होती हैं। अतः मैं अब चाहता हूँ कि मुझ में इच्छा (संकल्प) उत्पन्न ही वह हों जो कि जरूर सत्य-होनी हों। जो व्यर्थ रहनी हों पूर्ण न होनी हों, ऐसी इच्छा मुझ में प्रकट ही न हों, उत्पन्न ही न हों। मेरी चाहना है कि मैं 'सत्य संकल्प' हो जाऊँ—ऐसा हो जाऊँ जिस में संकल्प सत्य ही हों पर यह तब होगा—यह मैं जानता हूं कि यह तब होगा—जब कि मुझ में तुम्हारे मंगलरूप ही (मंगल संकल्प ही) उत्पन्न होवेंगे। सब ऋषियों का अनुभव है कि जिन मनुष्यों के हृदय सर्वथा सत्यमय, पूर्णतः सत्यनिष्ठ, अतएव पवित्र होते हैं उनमें जो संकल्प उठता है, अपने संकल्प से वे जो कुछ चाहते हैं, जो कुछ वरते हैं वह अवश्य पूर्ण हो जाता है। चूंकि ऐसे सत्यनिष्ठ हृदय उस सत्यस्वरूप भगवान् से समरेखा में हो जाते हैं और अतः उनमें वे ही संकल्प उठते हैं जो कि सर्वथा मंगल होते हैं और सब जगत् के कल्याण के लिए होते हैं। यों कहना चाहिए उनमें ईश्वरीय संकल्प ही प्रतिध्वनित होते हैं। इस संसार में जो कुछ हो रहा है, सफल हो रहा है, वह सब ईश्वरीय संकल्प ही है और मंगलमय भगवान् का हरेक संकल्प (हम चाहे उसे समझ सकें या न समझ सकें) सर्व-कल्याण के लिए ही है। अतः अब मुझ में ऐसे ईश्वरीय, सत्य हो जाने वाले, भद्र-संकल्प ही उठें। अभी तक तो मेरे हृदय में अच्छी बुरी दोनों तरह की कामनाएँ उठती हैं, परन्तु हे संकल्प देव! अब सब पापी बुद्धियाँ मुझसे निकाल दो; जिस संकल्प में जरा भी अहित की कालिमा हो, मैल हो, वह अब मुझ में न रह सके। मैं सत्य द्वारा अपने हृदय को शुद्ध करता हुआ यत्न करता हूँ कि अपने ज्ञान के अनुसार कोई भी

अशिव, अभद्र संकल्प मुझ में न आए, अतः हे देव, तुम मुझ में सत्य होने वाले अपने शिवरूपों द्वारा—केवल शिवरूपों द्वारा ही—मुझ में प्रविष्ट होओ। मेरे हृदय में सब तरफ से पवित्र कल्याणाकांक्षाएँ, मंगल—कामनाएँ ही प्रवेश पाएँ।

शब्दार्थ—

(काम) हे संकल्पदेव! (याः ते शिवाः) जो तेरे मंगलमय और (भद्राः) कल्याणकारी (तन्वः) स्वरूप हैं, (याभिः) जिन स्वरूपों से तू (यद् वृणीषे) जो कुछ वरता है वह (सत्यं भवति) सत्य हो जाता है। (ताभिः) उन अपने स्वरूपों के साथ (त्वं) तू (अस्मान्) हम में (अभि संविशस्व) सब तरफ से प्रविष्ट हो और जो (पापीः धियः) पापी बुद्धियाँ व संकल्प हैं, उनको (अन्यत्र अपवेशय) हम से जुदा करके दूर करदे।

*

* *

११ आषाढ़

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं, नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् ।
तस्मै प्रभाति नभसो ज्योतिषीमान्, स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयान'॥

अथर्व० १८.४.१४ ॥

विनय

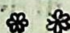
क्या तुम देवत्व पाना चाहते हो ? उस प्रसिद्ध बड़ी महिमा वाले 'देवयान' मार्ग के पथिक बनना चाहते हो ? परन्तु शायद तुम उस देवों के चलने के मार्ग को अभी समझ ही न सकोगे। बात यह है कि संसार में दो मार्ग चल रहे हैं। एक मार्ग से संसार के लोग भोग में, प्रकृति में, प्रवृत्त हो रहे हैं—विश्व के एक से एक ऊँचे सुखभोग पाने के लिए दृढ़तापूर्वक अग्रसर हो रहे हैं। दूसरे मार्गवाले लोग भोगों से निवृत्त होकर अपवर्ग की तरफ, आत्मा की तरफ, जारहे हैं। ये क्रमशः पितृयाण और देवयान हैं। इन दोनों मार्गों द्वारा प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग नामक दोनों अर्थों को पूरा कर रही है। परन्तु प्रवृत्ति

और निवृत्ति दोनों एक साथ कैसे हो सकती हैं? इसलिए जो लोग भोगों में विश्वास रखते हुए मुँह उठाए उधर जा रहे हैं, उन्हें लाख समझाने पर भी वे आत्मा की बात नहीं सुनेंगे। देवयान मार्ग तो उन्हें ही भासता है जो भोगों की निस्सारता को इतनी अच्छी तरह से समझ गए हैं, परम लुभावने बड़े बड़े दिव्य भोगों को (जिनका कि हमें अभी कुछ पता भी नहीं है) देखकर जो उनसे भी ऐसे विरक्त हो चुके हैं, कि वे अब संसार के सर्वश्रेष्ठ सुखभोग के इन्द्रासनों को छोड़ कर ज्ञानस्वरूप तत्व की शरण पाने के लिए व्याकुल हो गए हैं—भोगों में अन्धकार ही अन्धकार पाकर अब जो ज्ञानमय लोक में चढ़ना चाहते हैं। अतएव ऐसे मनुष्य अपने पुण्यकर्मों द्वारा चिनी हुई, उद्दीप्त और सुरक्षित की हुई अन्दर की चित्ताग्नि का आश्रय लेकर उसमें ही वास्तविक यज्ञ करने लगते हैं। अन्दर की अग्नि को भूल बाह्याग्नि में बड़े बड़े यज्ञ तो पितृयाणवाले भी करते हैं परन्तु ऐसे सच्चे यज्ञरूपी शोभनकर्म करने वाले उन 'सुकृत' लोगों को ही वह देव-यान नामक मार्ग इस भोगवाले संसार के अन्धकारमय आकाश में चमकता हुआ दिखाई देने लगता हैं। यही मार्ग 'स्वः' को, आत्म-सुख का, आत्म-ज्योति को प्राप्त कराने वाला है। यदि तुम में अभी भोगलिप्सा बाकी है तो तुम्हें अभी वह जगमगाता हुआ ज्योतिषीमान् मार्ग भी दिखाई नहीं दे सकता। जब कि संसार के लिए आकर्षक और प्रार्थनीय बड़े बड़े स्वर्गीयभोगों और दिव्य वि-भूतियों के भोग भी आत्महीनता के कारण तुम्हें बिल्कुल बेकार, निःसत्व जचेंगे और यह आत्मप्रकाशशून्य भोगदायक लोक अन्धकारमय दीखने लगेगा तब उसी अँधेरे के बीच में सुवर्ण-रेखा की तरह और फिर विद्युत-लता की तरह अनन्त में चका-चौंध करने वाली, अनन्तों सूर्यों के प्रकाश को भी मात करने

वाली, ज्योति की तरह वह देवयान का दिव्य प्रकाश तुम्हारे लिए उत्तरोत्तर बढ़ता जाएगा। तब भोगवादियों के लाख समझाने पर भी तुम्हें इन भोगों में राग नहीं पैदा होगा। अतः अभी ठहरो, अभी तो इतना याद रखो कि विषयभोग और ज्ञान बिल्कुल उलटी चीजें हैं। भोग-कामना की रात्रि के बिना हटे ज्ञान-सूर्य का उदय नहीं हो सकता।

शब्दार्थ—

जो मनुष्य (नाकस्य पृष्ठात्) सुखभोग के लोक से (दिवं) प्रकाशमय 'द्यौ' लोक के प्रति (उत्पतिष्यन्) ऊपर उठना चाहता हुआ और इस प्रयोजन से (ईजानः) वास्तविक यजन करता हुआ (चितं अग्निं) पुण्यकर्मों द्वारा चिनी हुई अग्नि का, आन्तर अग्नि का (आ-अरुहत्) आश्रय ग्रहण करता है (तस्मै) उस ही (सुकृते) शोभनकर्म करने वाले मनुष्य के लिए (ज्योतिषीमान्) ज्योतिर्मय (स्वर्गः) आत्मसुख को प्राप्त कराने वाला (देवयानः पन्थाः) 'देवयान' मार्ग (नभसः) इस प्रकाशरहित संसार-आकाश के बीच में (प्र भाति) प्रकाशित हो जाता है।

१२ आषाढ़

उतेयं भूमि र्वरुणस्य राज्ञः, उतासौ द्यौ र्बृहती दूरे अन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः॥

अथर्व० ४. १६. ३॥

विनय

इस सब संसार का एकमात्र राजा वरुण है, पापनिवारक परम श्रेष्ठ परमेश्वर है। इसके सिवा अन्य कोई इस विश्व में प्रभु (सर्वसमर्थ शासक) नहीं है। अन्य किसी दूसरे का आधिपत्य, शासन इस संसार पर चल नहीं रहा है। उसके सिवा और कोई संसार पर वास्तविक शासन कर भी नहीं सकता है, क्योंकि वही ऐसा अद्भुत परिपूर्ण है वि वह महान् से भी महान् होता हुआ सूक्ष्म से सूक्ष्म भी है। हमारी बुद्धि चाहे ऐसे अलखस्वरूप को न मान सके परन्तु वरुण ईश्वर का

स्वरूप ऐसा ही है। वह महान् तो इतना है कि यह विस्तृत विशाल भूमि ही नहीं किन्तु इससे भी लाखों गुना बड़ा द्युलोक भी उस वरुण राजा के हाथ में है। यह बड़ा भारी स्थूल दृश्य जगत् ही नहीं किन्तु इसकी अपेक्षा बहुत बड़ा जो प्रकाशमय (मनोमय, विज्ञानमय आदि सूक्ष्म) संसार है, वह भी सर्वथा वरुण राजा के आधिपत्य में ही है। इस भूलोक को तो हम कुछ जानते भी हैं, परन्तु वरुण राजा के अनन्त साम्राज्य के उस प्रकाशमय बड़े भारी विभाग को हम अभी नाम-मात्र को ही समझते हैं। और वह द्युलोक भी इतना विलक्षण है "दूरे अन्ता" है, वह दूर भी है और समीप भी है। आधिभौतिक रूप से वह दूर होता हुआ भी आध्यात्मिक रूप से यही हमारे अन्दर मौजूद है। तो आध्यात्मिक रूप से उस 'द्यौ' का अधिष्ठाता होता हुआ वह वरुण हमारे अन्दर भी सूक्ष्म से सूक्ष्म होकर घुसा हुआ है अर्थात् यों वह वरुण गहराई में भी अनन्त है जहाँ कि वह विस्तार में भी अनन्त है। एवं, संसार के ये दो प्रसिद्ध बड़े भारी समुद्र—एक पार्थिव समुद्र, भूमिका तीन पञ्चमांश भाग जलराशिमय पारावार तथा दूसरा इससे भी बहुत बड़ा अन्तरिक्ष समुद्र, जलवाष्पमय पारावार—ये दोनों समुद्र उस वरुण की कोख के समान हैं। परन्तु वरुणदेव आकार में जहाँ इतने विशाल हैं, इतने विराट् शरीर वाले हैं कि ये बड़े जल-समुद्र उनके कोख में रहनेवाले जरा से पानी के समान हैं; तो साथ ही वे इतने सूक्ष्म भी हैं कि वे इतने विराट् शरीरधारी हो कर भी इस जल के एक कण में (एक बिन्दु में) भी छिपे पड़े हैं, समाये हुए हैं, व्याप्त हैं। वरुण राजा ऐसे हैं। अहो! वरुण प्रभु के इस महान् से महान् होने के साथ ही सूक्ष्माति-सूक्ष्म होने के स्वरूप की भी यदि हम उपासना करें, विस्तार के साथ

गहराई में भी बढ़े हुए होने का हम यत्न करें, तो इस साधन से भी हम इतने शक्तिशाली हो जायँ और इतने सम हो जायँ कि हमारे सब पाप स्वयमेव निवारण हो जायँ, हमसे पापाचरण होना अस्वाभाविक हो जाय।

शब्दार्थ—

(इयं भूमिः) यह भूमि (उत) भी (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा की है तथा (असौ) वह (बृहती) बड़ा तथा (दूरे अन्ता) दूरता और समीपता वाला (द्यौः) द्यौ लोक (उत) भी वरुण राजा का है। (उत उ) तथा (समुद्रौ) ये दोनों समुद्र (वरुणस्य) वरुण देव की (कुक्षी) कोखें हैं (उत) और साथ ही वह (अस्मिन्) इस (अल्पे उदके) पानी की क्षुद्र बूँद में भी (निलीनः) छिपा हुआ है, व्याप्त है।

* *
*

१३ आषाढ़

इदमुच्छ्रेयो अवसानमागां, शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम् ।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु, न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु ॥

अथर्व० १९.१४.१ ॥

विनय

ऐ मेरे भाई, मैंने अब तक तुम से बहुत द्वेष किया, खूब दुश्मनी की। तुमने मुझे नुकसान पहुँचाया तो बदले में मैंने तुम्हें पहुँचाया, तुमने फिर उसका बदला लिया तो मैंने उसका प्रत्युत्तर दिया, इस तरह हमारी द्वेषाग्नि दिनों-दिन बढ़ती ही गयी है, भयंकररूप धारण करती गयी है। इस द्वेष से हम दोनों ही की बहुत हानि हो चुकी है, हम शीर्ण हो चुके हैं। मैं देखता हूँ कि क्रोध में आकर दाँत पीसते हुए उत्तर का प्रत्युत्तर देते जाने का, ईंट का जवाब पत्थर से देते जाने का, कहीं अन्त

नहीं है सिवा इसके कि हम दोनों का शीघ्र ही पूरा विनाश हो जाय। इसलिए कल्याण इसी में है कि अब हम इसे ख़तम करें। हम में से कोई एक अब उत्तर का प्रत्युत्तर न देकर, क्रोध का जवाब क्रोध में न देते हुए शान्ति में देकर, इसमें विराम लगा देवे। इसी में कल्याण है, निश्चय से इसी में कल्याण है। इसी तरह यह बढ़ती जाती हुई, हमारा नाश करनेवाली क्रोधाग्नि शान्त होगी। द्वेष कभी प्रतिद्वेष से शान्त नहीं होता है। अतः तुम तो चाहे अब भी मुझ से द्वेष करो, मुझे चाहे कितनी हानि पहुंचाओ, पर मैं अब उसका जवाब नहीं दूँगा। मैं आज इस द्वेष परम्परा का अवसान करता हूं। आज से तुम मेरे शत्रु नहीं हो, तुम तो मेरे भाई हो। मेरे हृदय के किसी कोने में भी अब तुम्हारे प्रतिद्वेष का लेश नहीं है। देखें, अब तुम मुझ से कब तक द्वेष करते रहोगे, कर सकोगे। मैं तो अब तुम्हारे क्रोध को तुम्हारे क्रोध-प्रेरित सब नुकसान को प्रेमपूर्वक सहता ही जाऊँगा; प्रेम ही करता जाऊँगा। मैं आज अपने द्वेष के सब शस्त्र फेंक कर इस दिशा में पूरी हार मानकर निश्चिन्त हो गया हूँ। द्वेष ख़तम करते ही मैं तो आज बड़ा विश्राम अनुभव कर रहा हूँ। अब जब कि मैंने इस कल्याण के मार्ग का अवलम्बन किया है तो, हे द्यौ और पृथिवि, अब तुम भी मेरे लिए कल्याणकारी हो जाओ। मेरे अन्तःद्वेष के कारण अब तक यह संसार भी मुझे तपता अनुभव हुआ करता था। पर अब तो यह सब आकाश और भूमि, आसमान और ज़मीन, यह सब संसार तेरे लिए कल्याणमय हो जाय। हे भाई! केवल तुम्हारे प्रति ही नहीं, किन्तु किसी भी व्यक्ति के प्रति आज से मेरा द्वेष नहीं रहा है। अतः ये सब विस्तृत दिशाएँ मेरे लिए आज से बिल्कुल असपत्न हो गई हैं, शान्त और सुखदायिनी हो गईं हैं। पहिले मैं शत्रुओं

के भय-त्रास, या आशंका में सदा उलझा रहता था, पर द्वेष छोड़ देने से सब के प्रति प्रेम ही प्रेम हो जाने से आज मैं सर्वथा निर्भय हो गया हूं। मैं आज सब दिशाओं और सब संसार में प्रेम, अद्वेष, मिठास, आनन्द, निश्चिन्तता और निर्भयता को ही अनुभव कर रहा हूँ।

शब्दार्थ—

(इदं उत् श्रेयः) अब यह ही कल्याणकर है कि (अवसानं आ अगां) मैं अब समाप्ति पर आ जाऊँ, द्वेष-परम्परा का विराम कर दूँ। अतः हे शत्रु ! (त्वां) तेरे साथ (न वै द्विष्मः) मैं तो द्वेष करना छोड़ ही देता हूँ। (द्यावा पृथिवी) द्यौ और पृथ्वी भी (मे) मेरे लिए (शिवे अभूताम्) अब कल्याणकारी हो जायँ, (प्रदिशः मे असपत्नाः भवन्तु) सभी दिशाएँ मेरे लिए शत्रुरहित हो जायँ (नः अभयं अस्तु) मेरे लिए अब अभय ही अभय हो जाय।

*

* *

१४ आषाढ़

अभयं मित्रादभयममित्रात्, अभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः, सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

अथर्व० १९.१५.६ ॥

विनय

हे जगदीश्वर, इस तेरे जगत् में, इस तेरे न्यायपूर्ण सच्चे शासन में रहते हुए मुझे कोई भी भय क्यों होना चाहिए? तू सब जगत् में सदा कल्याण ही कल्याण कर रहा है तो फिर मुझे कभी भी कोई डर क्यों होवे ?। भय करना नास्तिक होना है, तुझ पर अविश्वास करना है, तुझे भुलाना है, तेरा द्रोही होना है। अतः हे मेरे परम प्यारे, कल्याणस्वरूप स्वामी ! आज से मैं मन की दुर्बलता छोड़कर अभय रहने का व्रत लेता हूं। मैं अपनी शक्तिभर किसी भी भय के अधीन न होऊँगा। हे मेरे

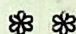
जगदीश्वर ! इसमें मेरी सहायता करो । भय न छोड़ कर तो मैं संसार में कुछ भी नहीं कर सकता, सत्यपथ पर नहीं चल सकता, कभी भी तेरे दर्शन नहीं पा सकता । अतः, हे प्रभो ! मुझे ऐसा बल दो कि संसार में किसी भी मनुष्य से मुझे भय न हो; न मित्र से भय हो, न अमित्र से । सत्यपथ पर चलते हुए मुझे न मित्रों की नाराज़गी आदि का भय हो और न अमित्रों द्वारा क्लेश पाने का । तेरे सामने मित्र अमित्र सब एक हैं । तेरे सामने मित्रों के अमित्र हो जाने से क्या डरना और अमित्रों द्वारा जो तू ही मुझ पर विपत् लाता है उससे क्या घबराना ! अनिष्ट तो तू मित्र और अमित्र दोनों द्वारा ला सकता है और लाता है । अतः इन दोनों ही द्वारा मुझे इस भय से बचा अर्थात् मुझे ऐसा बल दे कि मेरे लिए अनिष्ट ही कोई वस्तु न रहे । हे कल्याणमय प्रभो ! संसार में अनिष्ट है ही क्या ? तुझे भूल जाने और अतएव कल्पना का भय, क्लेश अनिष्ट बना लेने के सिवा सचमुच संसार में कोई भय या अनिष्ट नहीं है । जो कुछ है और जो कुछ होगा, वह सब निस्सन्देह शुभ ही है । मेरा निर्बल मन बहुत से घटित, ज्ञात, परिचित बातों को अनिष्टकर मान कर उन से तो भयत्रस्त होता ही है, पर वह आगे आने वाली बातों में सदा अनिष्ट की आशंका करके भी वह यूँही भयपीड़ित बना रहता है । "आगे न-जाने क्या होगा," "मेरे इस कर्म की सिद्धि होगी कि नहीं," "कहीं इसका फल, परिणाम बुरा न निकले," इस प्रकार का जो मुझमें भय रहता है वह तो बड़ा ही आत्मघातक है । अतः, हे मेरे अन्तर्यामी ! मुझ में अब ऐसा ज्ञान प्रदीप्त कर दो कि मेरे सब मोह हट जाँय और मैं तेरे कल्याणस्वरूप को सदा देदीप्यमान देखता हुआ दिन में या रात में, सदा

सब कालों में, सब अवस्थाओं में अभय रहूं। ऐसा बल दो कि अधकार हो या प्रकाश, विपत् हो या संपत्, अनुकूलताएँ हों या प्रतिकूलताएँ, मैं इन सब दिशाओं में सदा निर्भय रह सकूँ। संसार भर में, चारों दिशाओं में, किसी भी स्थान पर अब कोई वस्तु मुझे भय व संकट दे सकने वाली न रहे, सब जगह मित्रता ही मित्रता हो, कल्याण ही कल्याण हो, अभय ही अभय हो।

शब्दार्थ—

(मित्रात् अभयं, अमित्रात् अभयं) मुझे मित्र से भय न हो, अमित्र से भी भय न रहे। (ज्ञातात् अभयं) जो मालूम हो गया है उससे भय न हो, और (नः पुरः अभयं) जो आगे है; आने वाला है उससे भी भय न हो। (नः नक्तं अभयं, दिवा अभयं) हमें रात में भी अभय हो, दिन में भी अभय हो (सर्वा आशाः) सब दिशाएँ, सब दिशाओं के वासी प्राणी (मम मित्रं भवन्तु) मेरे मित्र हो जाँय, मेरे मित्र रूप रहें।





१५ आषाढ़

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः, तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं, तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥
अथर्व० १९.४१.१॥

विनय

हे राष्ट्रीय भाइयो, क्या तुम जानते हो कि यह राष्ट्र कैसे उत्पन्न हुआ है? हम वैयक्तिक पुरुषों के समूहात्मक इस राष्ट्र-पुरुष का कैसे जन्म हुआ? यह हमारे पूर्व ऋषियों के 'तप' (पिता) और 'दीक्षा' (माता) का पुत्र है। प्रारम्भ में उन सत्यदर्शी ऋषियों ने, जिन्हें स्वयं आत्मसुख प्राप्त था, जो आप्त-काम थे अतएव जिन्हें अपना कुछ भी स्वार्थ न था और इस लिए जो केवल लोक-कल्याण के लिए जी रहे थे, भद्र के लिए (लोक-कल्याण के लिए) तप का अनुष्ठान किया। उन्होंने देखा

कि सर्वलोकहित के लिए यह आवश्यक है कि वैयक्तिक शक्ति (बल व ओज) से ऊपर एक ऊँची बड़ी उत्कृष्ट शक्ति (बल और ओज) व्यक्तियों के सामने होवे। अतः उन्होंने अपनी इस भद्र-कामना का विस्तार किया; सब मनुष्य एक दूसरे का भला चाहें, मनुष्यों में एक सामुदायिक भले की भावना उत्पन्न हो, इसका उन्होंने घोर यत्न किया। चूँकि मनुष्यों के क्षुद्र स्वार्थ इस उच्च भावना के विरोधी हैं, अतएव उन ऋषियों को मनुष्यों में इस भावना के जमाने में बड़े कष्ट सहने पड़े, बड़ी बड़ी तपस्याएँ करनी पड़ीं। परन्तु वे दृढ़-संकल्प ऋषि तो व्रत ग्रहण किए हुए थे, दीक्षित थे, इसी प्रयोजन के लिए ही मानों जन्मे थे, अतः उन्होंने अपना व्रत पूर्ण किया और इस भावना को उत्पन्न कर दिया। सब व्यक्तियों में उत्पन्न हुई इस भावना की मूर्ति ही राष्ट्र है। इस प्रकार, हे राष्ट्रीय भाइयो, यह हमारा राष्ट्र उत्पन्न हुआ है और इस राष्ट्र-पुरुष का वह अभीष्ट बल और ओज भी प्रकट हो गया है जिससे कि सब राष्ट्र का कार्य चलता है। अतः हे देवो! ऋषियों की तपस्याओं से उत्पन्न हुए इस बलवान् तेजस्वी राष्ट्र-देव के सामने तुम भी झुको। यह राष्ट्रात्मा महादेवता देवों का भी वन्दनीय है। राष्ट्र का एक व्यक्ति बड़े से बड़ा, विद्वान् से विद्वान्, महात्मा से महात्मा, देव से देव होता हुआ भी राष्ट्र का एक व्यक्ति—उस संघात्मक राष्ट्र के सामने तुच्छ है। हे राष्ट्र के व्यक्ति देवो! तुम इस राष्ट्रदेव की वन्दना करो। तुम्हारी सर्व कल्याण की दिव्य भावना से ही, तुम्हारे इस देवत्व से ही, यह महान देव उत्पन्न हुआ है। अतएव अपने राष्ट्र को देव समझने वाले हे प्रजाजनो! तुम भी देव हो। तुम इस तरह तपस्या से उत्पन्न हुए इस अपने बलवान्, तेजस्वी, परम महान् देव के

सामने झुको, अपनी वैयक्तिक इच्छाओं को इस राष्ट्रदेव के आगे सदा समर्पित किए रखो। इसकी आज्ञा व आदेश को अवनत-शिर होकर प्रेम व आदरपूर्वक, पूरे हृदय से सदा पालन करो। अपनी सम्मतियों को, अपने तुच्छ लाभों को, अपने शारीरिक मानसिक या रुपये पैसे के स्वार्थों को तथा अपनी बड़ी से बड़ी, प्यारी से प्यारी, कामनाओं को भी राष्ट्रीयहित के सामने तुरन्त झुका देने के लिए तैयार रहो। यही राष्ट्र-देव की वंदना है, उस का उपसंनमन है। इस प्रकार अपने इस राष्ट्र के लिए सम्यक् प्रकार से नमन करने से हम सब का (हम सभी का) भद्र होगा, भला ही भला होगा।

शब्दार्थ—

(स्वर्विदः) आत्मसुख प्राप्त किए हुए (ऋषयः) ऋषियों ने (भद्रं इच्छन्तः) लोक-कल्याण की इच्छा करते हुए (अग्रे) प्रारम्भ में (तपः उपनिषेदुः) तप का अनुष्ठान किया और (दीक्षां उपनिषेदुः) दीक्षा को ग्रहण किया। (ततः) उस तप और दीक्षा से (राष्ट्रं जातं) राष्ट्र उत्पन्न हुआ (बलं ओजश्च जातं) तथा राष्ट्रीय बल और ओज भी उत्पन्न हुआ (तत्) इसलिए (अस्मै) इस राष्ट्र के सामने (देवाः) देव भी (उपसंनमन्तु) ठीक प्रकार झुकें, सत्कार करें।

❀

❀ ❀

१६ आषाढ़

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्माः, अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमानाः, वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥

अथर्व० १२.१. ६२ ॥

विनय

हे भूमिमातः ! हम तेरे पुत्र हैं। तुझ से उत्पन्न हुए हैं। यह पार्थिवदेह हमें तेरे रजःकणों से मिली है। हे मातः ! हमें अपनी गोद में बिठलाओ। तेरी आनन्दमयी गोद में बैठ कर हम सम्पूर्ण मातृसुख को प्राप्त करें, तेरे दुग्धामृत का पान भी करें। तू हमें केवल सुखमय आश्रय-स्थानों को ही नहीं प्रदान करती किन्तु अपने सर्वस्थानों में तू हमें हमारे उपयोगी भोग्य-पदार्थों को भी देती है। तेरी ऐसी गोद में हमारा आश्रय पाना,

हमारे लिए रोगरहित, निरन्तर निर्बाधपुष्टि, (उन्नति) का देने वाला हो। हे विस्तृत मातृभूमे, तेरे आश्रय में रहते हुए हमें जो तेरे अन्न, फल, औषध, जल, वायु, धन, पशु, मान रक्षा, विद्या सुख आदि मिलते हैं वे हमें ऐसे शुद्ध और उचित रूप में मिलते रहें कि ये हमारे रोगों, भयों और दुःखों को हटाकर हमारी स्वास्थ्यकर पुष्टि को ही करते जाँए; हमारी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति ही साधते जाँय। यह तेरा सब भोग्य पदार्थरूपी पुष्टिकारक दूध, हें मातः! हम तेरे बच्चों के लिए ही है—हमारी शारीरिक-उन्नति ऐसी अक्षुण्ण होवे कि हम पूर्ण दीर्घ आयु को भोगें। हमारी मानसिक व आत्मिक-उन्नति भी ऐसी अक्षुण्ण होवे कि हम 'क्रमशः' 'प्रतिबुध्यमान' होते जाँय, उत्तरोत्तर अधिक ज्ञान और बोध से (आत्म-जागृति से) युक्त होते जाँय। एवं हम अबोध बालकों का ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ेगा, हम सब प्रकार के ज्ञानों में उन्नत होंगे, त्यों त्यों, हे मातः, हम तेरे अपने पर किये गये अपार उपकारों को भी—तेरे मातृत्व को भी - हम अधिक अनुभव करने लगेंगे तथा तेरे प्रति अपने कर्त्तव्यों के लिए भी जागृत हो जायँगे। अतः तब हम राष्ट्र-कर के इस तुच्छ धन की बलि, किसी भय से नहीं किन्तु 'प्रतिबुध्यमान' होते हुए, जानते हुए, इसे कर्तव्य समझते हुए—प्रेम से तुम्हारे प्रति दिया करेंगे। केवल यह तुच्छ साधारण, नित्यप्रति की बलि ही नहीं, किन्तु हे मातः, हममें तेरे प्रति कर्तव्य का बोध ऐसा जागृत हो जाय कि हम तेरे लिए सब कुछ बलिदान करने को सदा उद्यत रहें। तुझ से मिला हुआ यह शरीर, यह आयु, यह प्राण, यह पुष्टि, यह धन, यह सब कुछ और किस काम के लिए है? यदि ये तेरी वस्तुएँ आवश्यकता पड़ने पर तेरे लिए समर्पित न हो सकें—तेरे दूध को चुकाने का समय

आने पर भी यदि हम इन्हें भेंट चढ़ाने से हिचकें—तो ऐसे धन, ज्ञान और जीवन को धिक्कार है, इन पापमय वस्तुओं का भूमि पर रहना व्यर्थ है। नहीं, हम तेरे पुत्र इतने ज्ञानी होंगे कि तेरे लिए अपने सर्वस्व को बलि चढ़ा देने को सदा उद्यत रहेंगे।

शब्दार्थ—

(पृथिवि) हे भूमे ! हम (त प्रसूताः) तुझ से उत्पन्न, तेरे पुत्र हैं, अतएव (उपस्थाः) तेरी गोद, तेरे आश्रय-स्थानों के सब पदार्थ (अस्मभ्यं) हमारे लिए हों और (अनमीवाः अयक्ष्माः सन्तु) आरोग्यवर्धक व रोगनाशक होवें (नः दीर्घं आयुः) हमारी आयु दीर्घ होवे (वयं) हम (प्रतिबुध्यमानाः) जागते हुए, ज्ञानसम्पन्न होते हुए (तुभ्यं) तेरे लिये (बलिहृतः) अपनी बलि देने वाले (स्याम) होवें।

*

* *

१७ आषाढ़

यदचरस्तन्वा वावृधानो, बलानीद्र प्रब्रुवाणो जनेषु ।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः, नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ॥

ऋ० १०.५४.२ ॥

विनय

हे इन्द्र परमेश्वर ! जो हम वेदों में भी युद्ध वर्णन पाते हैं कि इन्द्र ने वृत्र को मारा, इन्द्र ने अपने वज्र से अमुक अमुक असुरों का संहार किया, इन्द्र सोम को पीकर मस्त होकर बड़े बड़े पराक्रम के कार्य करता है, इन्द्र हवि को खाता है और हवि देने वाले को धन देता है; तो यह सब वर्णन आलङ्कारिक हैं। स्थूल जगत् में रहने वाले, स्थूल बुद्धि वाले हम मनुष्यों के हृदयों पर उसी वर्णन का प्रभाव होता है जोकि हमारे जैसा वर्णन हो, अतएव तुम्हारे शरीर का वर्णन किया जाता है, तुम्हारे युद्धों का वर्णन किया जाता है। हम माया में रहने वालों को माया रूप से ही किया गया तुम्हारा वर्णन समझने योग्य होता है। असल में न तुम्हारा कोई शरीर है न कोई भौतिक वज्र है। तुम्हारा शत्रु त्रिकाल में भी कौन हो सकता है ? तुम्हारी प्रकृति, तुम्हारी माया, सब कुछ अपने अटल

नियमों से चल रहो है। पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख स्वभावतः हो रहा है। तुम न किसी के शत्रु हो, न मित्र हो। तुम्हारी असली शक्ति की हम कल्पना तक नहीं कर सकते, वह तो अविज्ञेय है। हम तो इतना ही देख सकते हैं कि जगत् में जो कुछ हरकत हो रही है, जो परिवर्तन हो रहे हैं, वे सब नाना प्रकार की शक्तियाँ हैं जो कि तुम्हारी ही एकमात्र शक्ति के एक अंश हैं। स्थूल रूप में सब शक्ति सफलता व विजय के रूप में दीखती हैं, अतः संसार की भाषा में तेरी अनंत शक्ति का टूटा-फूटा वर्णन हम इसी युद्ध के ढंग से किया करते हैं। तेरी अवर्णनीय शक्तियों का, बलों का ख्यापन हम मनुष्यों द्वारा और दूसरे किस तरह किया जाय ?

पर साथ ही यह भी ठीक है कि हमारे ये सब वर्णन माया हैं, अधूरे हैं, य अवर्णनीयों का वर्णन है; यह अज्ञेय का काम-चलाऊ ज्ञान कराना है।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (यत् तन्वा वावृधानः) जो तू शरीर के साथ बढ़ता हुआ (अचरः) विचरा है (जनेषु बलानि प्रब्रवाणः) मानों मनुष्यों में अपने बलों को ख्यापित करता हुआ विचरता है (यानि युद्धानि आहुः) या जो यह वर्णन है कि तूने युद्ध किये हैं, (सा ते माया इत्) यह सब तेरी माया ही है। (न अद्य शत्रुं) असल में तो न तेरा कोई आज शत्रु है (न पुरा विवित्से) और न कभी पहिले तूने अपना कोई शत्रु जाना है।

*

* *

१८ आषाढ़

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्यानाः, दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदमंगिरसो दधानाः, यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥

ऋ० १०.६७.२॥ अथर्व० २०.९१.२ ॥

विनय

'यज्ञ यज्ञ' सब कहते हैं, पर यज्ञ के मूलतत्त्व को जानने वाले कोई विरले ही होते हैं। हम तो इतना जानते हैं कि जगत्-हित के लिए स्वार्थत्याग के कार्य करना यज्ञ है। इतना ठीक भी है। पर यज्ञ के प्रथम रूप से हम बहुत दूर हैं। यदि हमें कहीं वह रूप दीख जाय तब तो हम देख लेवें कि यज्ञ ही हमारा प्राण है, हमारा जीवन है; यज्ञ तो हमारे एक एक श्वास में होना चाहिए। इस यज्ञ के 'प्रथम धाम' (मुख्यस्थान) को जो साक्षात् देख लेते हैं वे 'अंगिरस' कहाते हैं; क्योंकि ऐसे लोग इस जगत् शरीर के अंगों के रस होते हैं। ये वे महात्मा पुरुष होते हैं जो कि संसार को ठीक रास्ते पर ले जाते हुए संसार के प्राणरूप होते हैं। संसार में जो पाप, अधर्म, स्वार्थ की शक्तियाँ प्रवृत्त हो रही हैं उनसे संसार का जीवन-रस सूख जाए यदि ये 'अंगिरस' उसमें निरन्तर धर्म-धारा न बहाते रहें। इन अंगिरसों को बार बार प्रणाम है।

पर हमें तो यह जानना चाहिए कि ये 'अंगिरस्' महात्मा कैसे बनते हैं? इनके लक्षण क्या हैं? इनके चार लक्षण हैं। (१) ये सत्य ही बोलते हैं, ये सत्य का ही वर्णन करते हैं। (२) केवल वाणी में ही सत्य नहीं होता किन्तु इनके ध्यान में व विचार में भी कुटिलता नहीं आने पाती; इनके विचार में—मन में—भी असत्य नहीं आता (अतएव) इनकी बुद्धि इतनी सच्ची और प्रकाशपूर्ण होती है कि इन्हें समष्टि-बुद्धिरूप जो 'द्यौ' है उसके पुत्र कहना चाहिए और ये वीर-पुत्र होते हैं, क्योंकि संसार में सदा अज्ञान-शत्रु पर विजय पाने के लिए अग्रसर रहते हैं (४) और ये 'द्यौ के पुत्र' अपने में 'विप्रपद' को, ज्ञानमय व्यापक पद को धारण किए होते हैं—भगवान् को, भगवान् के एक ज्ञानमय व्यापक रूप को, अपने में धारण किए फिरते हैं

हे यज्ञकर्मों द्वारा ऊँचे चढ़ने की इच्छा रखने वाले और यत्न करनेवाले भाइयो! अंगिरसों के इन चार लक्षणों को अपने में रमाते चलो, रमाते हुए चढ़ते चलो।

शब्दार्थ—

(ऋतं शंसन्तः) सत्य ही कहने वाले, (ऋजु दीध्यानाः) अकुटिल ध्यान करने वाले, (असुरस्य) प्रज्ञावाले (दिवः) दिव के, 'द्यौ' के (वीराः पुत्रासः) वीर पुत्र, (विप्रं पदं दधानाः) और जो ज्ञानमय व्यापक पद को धारण किए हुए हैं ऐसे (अंगिरसः) अङ्गिरस लोग (यज्ञस्य प्रथमं धाम) यज्ञ के परम मुख्य स्थान को (मनन्त) जानते हैं।

❁

❁ ❁

१६ आषाढ़

आतारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नों मघवा धात्विन्द्रः ॥

ऋ० ६.४७.११ ॥ य. २०.५० ॥ सा० पू०४. १.५. २ ॥ अ० ७.८६. १ ॥

विनय

यह संसार एक रणस्थली है। इसमें हरेक मनुष्य अपनी समझ के अनुसार किसी न किसी विजय पाने में लगा रहता है और उसके लिए दिन-रात संघर्ष में लग जाता है। यद्यपि इन संघर्षों में विजय पाने के लिए मनुष्य प्रायः अपने शरीर-बल, बुद्धि-बल, संगठन-बल, विज्ञान-बल, मित्र-बल, सैन्य-बल आदि बलों का प्रयोग करता हुआ अभिमान से समझता है कि मैं इन बलों द्वारा ये सब लड़ाइयाँ जीत लूँगा, परन्तु एक समय आता है जब कि मनुष्य इन सब बाह्य-बलों से हारकर, निराश होकर, संसार की किसी अज्ञात शक्ति को ढूँढने व पुकारने लगता है। 'हे राम' या 'या अल्ला' या 'O my god' आदि कहकर किसी न किसी नाम से, हे इन्द्र! असल में वह तुझे पुकार उठता है। तब पता लगता कि, हे संसार की अज्ञात अदृश्य शक्ति! तू ही एकमात्र शक्ति है। संसार के शेष सब बल तेरे ही आधार से बल हैं। जब तू चाहता है तब वे बल होते हैं, तेरी जब इच्छा नहीं होती तब किसी बल में शक्ति नहीं रहती। इसलिए, हे इन्द्र! तू ही मेरा सच्चा पालक है और

तू ही एक मात्र सब आपत्तियों से मेरा रक्षक है। तुझ ही महा-पराक्रमी को हर संग्राम में पुकारना चाहिए। तेरा ही पुकारना शोभन है, सुफलदायक है। और किसी को पुकारना निष्फल है, बेकार है। पुकारा हुआ तू भक्तजनों के संकट एक क्षण में दूर कर देता है। तू सर्वशक्तिमान् है। अतएव तू 'पुरुहूत' है, सदा से जब से सृष्टि चली है सन्त लोग तुझे आड़े समय में पुकारते रहे हैं, याद करते रहे हैं। हे शक्र ! तुझे छोड़कर मनुष्य और किसे पुकारे ? इसलिए हे इन्द्र ! मैं तेरी पुकार मचा रहा हूं। मघवन् ! तू मेरे लिये कल्याणकारी होता हुआ मेरी पुकार सुन। मैं निश्चय से जानता हूँ कि मैं तेरा पवित्र नाम लेता हुआ अपने इस जीवन की सब लड़ाइयों में विजय पाता चला जाऊँगा। मुझे किसी युद्ध में किसी भी अन्य हथियार की ज़रूरत नहीं। बस, तू मेरी वाणी पर रहे, यही चाहिए। तेरा नाम पुकारना मुझे सब विपत्तियों से पार कर देगा।

शब्दार्थ—

(त्रातारं इन्द्रं) पालन करनेवाले इन्द्र को, (अवितारं इन्द्रं) रक्षा करने वाले इन्द्र को (हवे हवे सुहवं) एक एक संग्राम में सुख से से पुकारने योग्य (शूरं इन्द्रं) पराक्रमी इन्द्र को और (शक्रं इन्द्रं) उस सर्वशक्तिमान् इन्द्र को (पुरुहूतं इन्द्रं) जिसे कि असंख्यों सत् पुरुषों ने समय समय पर पुकारा है—उस इन्द्र को मैं भी (ह्वयामि) पुकारता हूँ, बुलाता हूँ। (मघवा इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् इन्द्र (नः स्वस्तिः धातु) हमारा कल्याण करे।

* *
*

२० आषाढ़

न विजानामि यदि वेदमस्मि, निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि ।
यदामागन्प्रथमजा ऋतस्य, आदित् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥

ऋ० १.१६४.३६॥ अथर्व० ६.१०.१५॥

विनय

मैं क्या कहूँ ? क्या मैं यह शरीर हूं ? इसमें चेतना कहाँ से आई है ? मैं क्या वास्तव में अमर हूँ ? यह कुछ समझ में नहीं आता । या क्या मैं बिल्कुल परिस्थितियों का गुलाम हूँ ? इन परिमितता के बंधनों से क्या मैं कभी छूट सकता हूं ? यह संसार किस लिए है, किधर जारहा है ? मेरा इससे क्या सम्बन्ध है ? कुछ नहीं समझ पाता । हमारे दर्शनों में कोई कुछ कहता है और कोई कुछ । उधर पश्चिम के दार्शनिक और वैज्ञानिक कुछ कुछ कहते हैं । मैं सब तरफ से बँधा हुआ अपने को अनुभव करता हूँ, संशयों से दबा हुआ इधर उधर भटकता फिरता हूँ; पर ज्ञान-तृप्ति कहीं नहीं होती है । कहते हैं कि जब 'ऋतंभरा प्रज्ञा' का उदय हो जाता है तब कोई संशय नहीं रहता । उसके प्रकाश में

प्रत्येक वस्तु बिल्कुल यथावत् दिखाई देती है, वहाँ संशय और भ्रम हो ही नहीं सकता। वह यौगिक प्रत्यक्ष है,[१] उससे हरेक तत्त्व का साक्षात्कार, प्रत्यक्ष हो जाता है। ओह ! यदि वह ऋतंभरा प्रज्ञा[२] मुझे प्राप्त हो जाए तो संसार की वाणियाँ, वेद-शास्त्र दर्शन (Philosophies) विज्ञान (Science) जो कुछ कहते हैं, उस सब का मतलब हल हो जाय। ये भिन्न भिन्न वाणियाँ सब नव्य और पुरातन ग्रन्थ जो कहते हैं, उनकी प्रतिपादित वस्तु मिल जाए। फिर ये परस्पर विरुद्ध दीखने वाले शास्त्रवचन मुझे बहका न सकेंगे। बस, वह ऋतंभरा-प्रज्ञा वही चाहिए और कुछ नहीं चाहिए। वही मेरे इस भयंकर सन्निपात रोग का एकमात्र इलाज है। मुझे उसके बिना अब किसी सांसारिक ज्ञान से चैन नहीं मिल सकता। आह ! ऋतभरा प्रज्ञा ! ऋतंभरा प्रज्ञा !! उसी के लिए मेरे सारे यत्न।

शब्दार्थ—

(यदि वा इदमस्मि) मैं यह हूँ या नहीं, क्या हूं, (न विजानामि) यह कुछ जान नहीं पाता, (निण्यः) दग हुआ, (सन्नद्धः) पूरी तरह बँधा हुआ (मनसा चरामि) संशयित मन से फिरता हूँ। (यदा) यदि (मा) मुझे (ऋतस्य प्रथमजाः) सत्यस्वरूप की प्रथमोत्पन्ना बुद्धि (आगन्) प्राप्त हो जाए (आत् इत्) तो मैं (अस्याः वाचः भागं) वाणी मात्र के प्रतिपाद्य विषय को (अश्नुवे) पा जाऊँ।

१—"ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" "श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्"। योग-दर्शन १।४७-४८।

२—ऋतं सत्यमेव विभर्तीति ऋतम्भरा।

२१ आषाढ़

उद्यानं ते पुरुष नावयानं, जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथं, अथ जिर्विं विंदथमावदासि ॥

अथर्व० ८.१.६ ॥

विनय

हे पुरुष, तू इस सृष्टि में मुरझाया हुआ, गिरी हुई तबीअत से क्यों रहता है? तू उठ। तुझे तो दिनों-दिन उन्नत होना चाहिए। तू अपने आपको विकसित करने के लिए ही संसार में आया है। तुझे जीवन द्वारा आत्मा की शक्तियों का प्रकाश करना है। तेरे जीवन को, प्राण का, बल से संयुक्त करता हूँ। तेरे प्राण में महाबल भरा हुआ है, इस बल को पाकर लगातार तेरा, उत्थान, उन्नति होती जाए। अपने आपको पतित करने का, या हिम्मत हारने का क्या काम है? इस बल को तू जगाता जाएगा तो तेरा 'जीवातु' (जीवन) एक उत्तरोत्तर आनन्ददायक यात्रा हो जायगी। अतः तू इस 'दक्ष' से युक्त होकर अब इस शरीररूपी रथ पर सवार हो जा। अभी तक तू इस पर सवार नहीं था किन्तु शायद यह शरीर तुझ पर सवार हो रहा है। उठ, इस शरीर का तू अधिष्ठाता है यह रथ तेरा है। इसे अपने अधीन रख कर चला तो पता लगेगा कि यह रथ कितना सुख से चलने वाला है। तब शरीर के क्लेश, राग आदि का तुझ पर प्रभाव न हो सकेगा। बल्कि तेरे प्रभाव से यह शरीर रोगादि से रहित स्वस्थ हो जायगा। यही नहीं, किन्तु यदि तू इस रथ का पूरा

सवार, रथी, अधिष्ठाता हो जायगा तो तू चाहे तो तेरा अमर आत्मा उस प्राण-बल द्वारा इस रथ को अमृत भी बना सकता है; सब अणिमादि सिद्धियाँ और 'काय-संपत्' इसमें प्रकट हो सकती हैं। इसीलिए कहता हूँ कि तू उठ ! इस सुखमय अमृत रथ पर चढ़ जा और इस द्वारा उत्तरोत्तर आत्म-विकास को करता हुआ उन्नत उन्नत होता जा। इस बल को पा लेने के बाद, इस रथ पर चढ़ जाने के बाद, कभी 'क्रमिक ह्रास' का नियम नहीं लग सकता है। वह प्राण-बल तुझमें दिनोंदिन बढ़ता ही जाएगा। स्वभावतः वृद्धावस्था के आने पर भी तेरी शक्ति में ह्रास नहीं आना चाहिए। उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्राण-बल तो वृद्धावस्था में पूर्ण विकसित हो जाता है, 'वसु' और 'रुद्र' अवस्था से उठकर उस समय प्राण 'आदित्य' रूप हो जाते हैं। जैसे प्राण-भंडार आदित्य सब जगह अपनी किरणों को फैलाता है, उसी तरह वृद्धावस्था में तू अक्षीण शक्ति होकर अपने विशाल अनुभव ज्ञान को सब मनुष्य-समाज के लिए प्रदान करता रह।

शब्दार्थ—

(पुरुष) हे जीव ! (ते उद् यानं) तेरा उत्थान ही हो, उन्नति ही हो; (न अवयानं) नीचे पतन कभी नहीं। (ते जीवातुं) तेरे जीवन को (दक्षताति) बल से युक्त (कृणोमि) करता हूँ। (इमं) इस विद्यमान (अमृतं) अमृत युक्त (सुखं) सुखकारी (रथं) रथ पर (हि) निश्चय से (आरोह) तू चढ़ जा। (अथ) फिर (जिर्विः) जीर्ण हो कर, बुढ़ापे में भी (विदथं) ज्ञान का (आवदासि) प्रचार करता रह।

नोट—'जीवातुं ते दक्षताति कृणोमि' ये शब्द मुझे परमात्मा कह रहे हैं और उन्होंने मेरे शरीर में दक्ष (बल) का संचार कर दिया है ऐसा अनुभव कीजिए।

२२ आषाढ़

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी, उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥
अथर्व ० १२.१.१ ॥

विनय

हे प्रभो, जिस भूमि पर हम रहते हैं यह भूमि हमें उन्नत करे, हमें विशाल बनावे। हम इसे धारण करने का पूरा यत्न कर रहे हैं। जब कभी हम मोहवश यह समझ लेते हैं कि कूटनीति अर्थात् झूठ, कपट, चालाकी आदि से अपने देश, राष्ट्र व मातृभूमि की धारणा होगी तब हम भूले होते हैं। पृथिवी को धारण करने वाले जो आवश्यक गुण हैं उन में तो सब से पहिला सत्य है। वह महान् सत्य जिससे विश्व-ब्रह्माण्ड स्थित है, हमारी भूमि को भी वह ही धारण किये हुए है। और केवल

सत्य-ज्ञान ही नहीं, किन्तु उसका आचरण राष्ट्र को स्थिर रखता है। हमें कठोता के साथ, तेजस्विता के साथ, पूरा पूरा सत्याचरण करना चाहिए। हम में जितना सत्य होगा, जितनी उग्र सत्यचर्या होगी, जितना हम दृढ़ संकल्प होकर ग्रहण किये व्रतों को निबाहने वाले होंगे, जितने हम राष्ट्र के लिए कष्ट सह सकेंगे, जितना हमें अनुभूत-ज्ञान होगा और जितना हम निस्वार्थ होकर परोपकार वृत्तिवाले होंगे, उतना ही यह हमारा देश अचलतया स्थित रहेगा। भूमि को कोई राजा, शासन या प्रजा नहीं धारण करते, किन्तु वहाँ के वासियों में स्थित ये छः गुण ही एक मात्र भूमि के धारण करने वाले होते हैं। यह जानकर इन गुणों का हम अपने में लाने का पूरा यत्न करते हुए ही यह प्रार्थना करते हैं कि हमारी प्यारी मातृभूमि हमें विस्तृत और विशाल बनावे। हम इन गुणों की साधना द्वारा अपनी मातृभूमि को धारण करें और यह भूमि हमारे भूत और भव्य ही रक्षा करने वाली होकर हमें उन्नत करे। हम अपने भूत के आधार पर ही भविष्य में उन्नत हो सकते हैं और जितना ही हम अपने राष्ट्र के साथ एक होंगे, तादात्म्य करेंगे, उतना दूर तक हम अपने राष्ट्र के भूत में प्रविष्ट होंगे और उतना ही अपने भविष्य को उज्ज्वल और महान् बना सकेंगे। इस तरह मातृभूमि की हमारी उपासना हमें सुविशाल कर देवे। राष्ट्र का व्यक्ति मातृभूमि के जीवन और मरण के साथ ही जीता या मरता है। मातृभूमि की अनन्यभाव से उपासना मनुष्य को इतनी विस्तृत आयु (जीवन) प्रदान कर देती है! तब मनुष्य क्षुद्र बातों से कितनी ऊँचा हो जाता है! आओ, हम आज से उन सत्य आदि महान् [बृहत्] गुणों को अपने में धारण करते हुए अपनी मातृभूमि की सच्ची पूजा किया

करें जिससे यह भगवती मातृभूमि हमारे भूत के दृढ़ चट्टान पर हमारे उज्ज्वल भव्य की रचना को सुरक्षित करती हुई हमारे लिए उतने विशाल क्षेत्र को खोल देवे—उस भूत और भव्य को व्याप्त कर लेने वाले विस्तृत लोक को हमारा बना देवे।

शब्दार्थ—

(बृहत् सत्यं) महान् सत्य (उग्रं ऋतं) कठोर सत्याचरण (दीक्षा) व्रतग्रहण (तपः) कष्टसहन (ब्रह्म) अनुभव-ज्ञान (यज्ञः) निस्स्वार्थ कर्म ये (पृथिवीं धारयन्ति) पृथिवी को धारण कर रहे हैं। (भूतस्य भव्यस्य पत्नी) भूत और भव्य की रक्षा करने वाली (सा नः पृथिवी) वह हमारी मातृभूमि (नः) हमारे लिए (उरुं लोकं) विस्तृत लोक को, विशाल क्षेत्र को (कृणोतु) करे।

❀ ❀
❀

२३ आषाढ़

यस्मिन्नृचः साम यजूँषि यस्मिन्, प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाँ, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

यजु० ३४, ५॥

विनय

हे प्रभो, मेरे चित्त का मैल अभी तक नहीं निकलता। स्वार्थ-कामना, राग-द्वेष, मोह आदि मलिनता इसमें सूक्ष्मता से ऐसो चिमटी हुई हैं कि इस सूक्ष्म मैल के कारण मेरे बिना जाने भी इसमें अशुभ संकल्प पैदा हो जाते हैं। हे नाथ, मेरे मन को इतना मज़बूत कर दो कि कम से कम इसमें अशुभ राग-द्वेषात्मक संकल्प न उठें, 'उदार' रूप में न आवें। मुझे तो इस मन से परम पुरुषार्थ साधना हैं, सत्यज्ञान को प्राप्त कर लेना है।

पर यह मन अभी इतना भी शुद्ध और बलवान् नहीं हुआ है कि सदा शिवसंकल्पवाला बना रहे। मन में तो सब वेदज्ञान भी मौजूद है। ऋक्, यजु, साम तीनों प्रकार का वेदज्ञान मन के ही आश्रित है। मैं देख रहा हूं कि जैसे कि रथनाभि में अरे लगे रहते हैं वैसे सब वेद मन में रखे हुए हैं। हे परमेश्वर! यह प्रलय में भी नष्ट न होने वाला तुम्हारा अनन्त नित्य वेदज्ञान तुम्हारे सर्वव्यापक परमशुद्ध मनमें ही तो—'प्रकृष्ट चित्तासत्व' में ही तो—रहता है। और वहीं से यह वेद-ज्ञान ऋषियों ने अपने शुद्ध मनों में पाया है और वे मन्त्रद्रष्टा ऋषि बने हैं। सचमुच वेद—ज्ञान पुस्तकों में नहीं है, यह मन में है। मैं जानता हूं कि संपूर्ण वेदराशि, तीनों प्रकार का वेद-ज्ञान, मेरे भी मन में रखा हुआ है। मेरे भी मन के उच्च, पवित्र होने पर वे तीन अवस्थाएँ आ सकती हैं जिनमें कि ऋक्-ज्ञान, यजुःज्ञान और साम-ज्ञान स्वभावतः मुझ में प्रकाशित हो सकेंगे। सभी प्रजाओं के, सभी मनुष्यों के मनस्तत्व में जहाँ उनका सब प्रकार का चित्त, उनके संस्कारों का महाकोष, उनका अनन्त वासनाजाल, सब प्रकार की असंख्यात वासनाएँ मौजूद हैं, वहीं मन में सब सत्य-ज्ञान भी मौजूद हैं। पर यह सब जानते हुए भी मैं लाचार हूँ। वल्कि मैं मन के इस अनन्तभण्डार को जानता हूं इसी लिए छटपटा रहा हूँ। मुझे तो अपने मन में वेदज्ञान को प्रकाशित करना है, पर यह अभी कुसंस्कारों से भरा पड़ा है। मेरे मन को तो सत्य-संकल्प बनना है, पर यह अभी शिव-संकल्प भी नहीं बना है। हे अन्तर्यामी! हे मेरे मन के स्वामी! मुझ में तो इतनी शक्ति आ जानी चाहिए कि मैं जब जो संकल्प चाहूं, वही-केवल वही—संकल्प मुझ में आवे और जितनी देर तक चाहूँ, उतनी

देर तक रहे। परन्तु वह अवस्था तो अभी दूर है। अभी तो मैं इतना ही माँगता हूँ कि, हे हृदयवासी! कृपा करके मेरे मन को ऐसा दृढ़ कर दो कि मुझमें चाहे कितने संकल्प उठें और जब जो संकल्प चाहे वही उठे, पर वे सब संकल्प शुभ ही शुभ हों; उनमें कोई अशिव न हों। मुझमें अकल्याणकारी संकल्प उठने तो अब वन्द ही हो जाएँ। मन की इतनी शुद्धि, इतनी प्रबलता तो प्रदान कर ही दो।

शब्दार्थ—

(यस्मिन्) जिस मनस्तत्व में (ऋचः साम) ऋक्-ज्ञान और साम-ज्ञान तथा (यस्मिन् यजूंषि) जिसमें सब यजु-ज्ञान भी (प्रतिष्ठिता) इस तरह स्थापित हैं (इव) जैसे कि (रथनाभौ अराः) रथ नाभि में अरे लगे रहते हैं, जड़े रहते हैं और (यस्मिन्) जिस मनस्तत्व में (प्रजानां सर्वं चित्तं) प्रजामात्र का संपूर्ण चित्त, सब संस्कारों से चित्रित और सर्ववासना-जाल से युक्त चित्त (ओतं) ओत-प्रोत हुआ हुआ, पिरोया हुआ है (तत् मे मनः) वह मेरे अन्दर स्थित मन (शिव संकल्पं अस्तु) सर्वथा शुभ ही संकल्प करने वाला हो जाए।

❀

❀ ❀

२४ आषाढ़

वृत्रस्य त्वा श्वसथात् ईषमाणाः, विश्वे देवाः अजुहुः ये सखायः।
मरुद्भिः इन्द्र सख्यं ते अस्तु, अथेमा विश्वाः पृतना जयासि ॥

ऋ० ८.९६.७ ॥

विनय

हे मेरे आत्मा, तेरे असली साथी तो प्राण ही हैं। जब तक प्राण तेरे साथी नहीं हो जाते तब तक अन्य देवों का साथ बेकार है, बल्कि समय पर धोखा देने वाला है। मैं जब उत्तम ग्रन्थ पढ़ता हूँ, सन्तों की वाणी सुनता हूँ, पवित्र उपदेश श्रवण करता हूँ तब मन में बड़े दिव्य, उत्तम विचार उत्पन्न होते हैं; आन्तरिक मनन और भावन से मन की अवस्था ऐसी ऊँची हो जाती है कि हृदय में मानों देव-समाज लग जाता है। मैं अपने को बिल्कुल निर्विकार, निष्काम, और पवित्र समझने लगता हूँ। परन्तु पाप-प्रलोभन के आते ही यह सब का सब उलट जाता है, वृत्रासुर के सन्मुख आने पर इस सब देव-जमाज में भगी पड़ जाती है, उसकी फुँकार से सब दिव्य-विचार क्षण में उड़ जाते हैं ज़रासी देर में हृदय में महाबली वृत्रासुर का राज्य जम जाता है। उस समय में यह जानता हुआ भी कि मैं बुरा कर रहा हूँ, पाप कर रहा हूँ, पाप की तरफ खिंचा चला जाता हूँ। मनुष्य इस अवस्था से कैसे पार होवे? इसका एक ही इलाज है कि मनुष्य प्राणों की समता प्राप्त करें। प्राणों का सम होना ही

प्राणों का (मरुतों का) आत्मा के साथ मैत्री होना है। आत्मा साथ जुड़ने पर, आत्मा के समीप होने पर प्राण सम और शान्त हो जाते हैं। ये सम हुए प्राण कार्य करने के बड़े प्रबल साधन बन जाते हैं, प्राण की सम अवस्था में जो विचार होते हैं, वे स्थिर और दृढ़ होते हैं, इस अवस्था में किये गए संकल्प बड़ा विस्तृत प्रभाव रखते हैं। आत्म-शक्ति जब प्राणों को आत्मगृहीत करके उन द्वारा प्रकट होता है तो उसके सामने कोई नहीं ठहर सकता, सब वासनायें दब जाती हैं, कोई भी पाप-विचार सिर ऊपर नही उठा सकता। बड़े बड़े प्रभोलन, पाप की बड़ी बड़ी फौजें, आत्मा के एक संकल्प के द्वारा दब जाती हैं, समाप्त हो जाती है; आत्माग्नि की एक लपट में भस्म हो जाती हैं, जबकि वह आत्मा-संकल्प सम हुए, सखा बने हुए प्राणों द्वारा प्रकट होता है, और जबकि आत्माग्नि प्राणमाध्यम द्वारा सहस्र-गुणित होकर जल उठती है। प्राणों की इस मैत्री को, दोस्ती को पाकर आत्मा क्या नहीं कर सकता ? प्राण महाबली है। वह जबतक असम रहता है तब तक उसका बल वृत्रासुर के काम आता है, पर जब वह सम हो जाता है तो वह आत्मा का हो जाता है। आत्मा का सखा प्राण अजेय है।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे आत्मन् ! (विश्वे देवाः) सब देव, सब दिव्य-भाव (ये सखायः) जो कि तेरे साथी बनते हैं (वृत्रस्य श्वसथात्) पापासुर के साँस से, फुंकार से बलप्रदर्शन से (ईषमाणाः) डर कर भाग जाते हुए (त्वां) तुझे (अजहुः) छोड़ देते हैं। हे इन्द्र ! (ते सख्यं) तेरी मैत्री, तेरा साथ (मरुद्भिः) प्राणों के साथ (अस्तु) यदि होता है या होवे (अथ) तो तू (इमाः विश्वाः पृतनाः) पाप की इस सब बड़ी फौज़ को (जयासि) जीत लेता है।

२५ आषाढ़

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः, सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी ॥

ऋ० १०. ११७.६ ॥

विनय

संसार में धनी दीखने वाले दुर्बुद्धि (पापबुद्धि) मनुष्यों के पास जो अन्न-भण्डार और नाना भोग-सामग्री दिखाई देती है, क्या वह भोग्य सामग्री है ? अरे, वह सब भोग-विलास का सामान तो उनकी 'मौत' है। वह भोग्य वस्तुएँ नहीं हैं किन्तु उनको खा जानेवाले ये इतने उनके भोक्ता हैं, भक्षक हैं। भोग्य सामग्री का मनोहर रूप धरके आया हुआ उनका काल है, उन्हें खाजाने के लिये आया हुआ काल है। मनुष्यों ! तुम्हें इस विचित्र बात पर विश्वास नहीं होता होगा, किन्तु मैं

सच कहता हूँ, सच कहता हूँ और फिर सच कहता हूँ कि पापी, दुर्बुद्धि पुरुष के पास एकत्रित हुआ सब सांसारिक-भोग का सामान उसकी मृत्यु का सामान है, केवल मृत्यु का ही सामान है; इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। क्योंकि वह पुरुष अपने इस धन, ऐश्वर्य द्वारा केवल अपने देह को ही पोषित करता है। न तो वह उस द्वारा अपने अन्य मनुष्य-भाइयों को पोषित करके अपने स्वाभाविक यज्ञ-धर्म को पालता है, न ही वह अर्यमादि देवों के लिए आहुति देकर आधिदैविक जगत् के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित रखता है। यदि वह आधिदैविक आदि जगत् को पोषित करता हुआ इसके यज्ञ-शेष से अपने को पोषित करे तब जो भोग-सामग्री उसके लिए अमृत हो सकती थी वही भोग-सामग्री उसकी 'मौत' बन जाती है। मनुष्यो, याद रखो कि अकेला भोगने वाला, औरों को विना खिलाए स्वयमेव अकेला भोगने वाला मनुष्य, केवल पाप को ही भोगता है। जब कि चारों तरफ असंख्यों पुरुष एक समय भी भर पेट भोजन न पा सकने वाले, भूखे-नंगे, झोंपड़ों में पड़े हों तो उनके बीच में जो हलुवा पूरी खाने वाला, महल में रहने वाला, पलंग पर सोने वाला 'अप्रचेताः' पुरुष है उससे तुम क्या ईर्ष्या करते हो? तुम्हें बेशक वह मजे में हलुवा पूरी खाता हुआ नजर आता है, पर जरा सूक्ष्मता से देखो तो वह विचारा तो केवल अपने पाप को भोग रहा होता है, वह केवल शुद्ध पाप का भागी होता है और इस अयज्ञ के भारी पाप-बोझ को वह अकेला ही उठाता है; इसमें उसका कोई और साक्षी नहीं होता। "केवलाघो भवति केवलादी" यह संसार का परम सत्य है। इसे कभी मत भूलो। (शरीर, मन और आत्मा

तोनों को पुष्टि करने वाले) सच्चे भोजन में और (शीघ्र ही विनाश को पहुँचा देने वाले) पापमय भोजन में भेद करो। पाप से सना हुआ हलुवा पूरी खाने की अपेक्षा रूखा-सूखा खाना या भूखा रहना हजारों गुणा श्रेष्ठ है। पहिले तरह का भोजन मौत है; दूसरा अमृत है।

शब्दार्थ—

(अप्रचेताः) दुर्बुद्धि मनुष्य (मोघं) व्यर्थ ही (अन्नं) भोग-सामग्री को (विन्दते) पाता है। (सत्यं ब्रवीमि) सच कहता हूँ कि (स) वह भोग-सामग्री (तस्य) उस मनुष्य के लिए (वध इत्) मृत्यु रूप ही होती है—उसका नाश करने वाली ही होती है! ऐसा दुर्बुद्धि (न अर्यमणं पुष्यति) न तो यज्ञ द्वारा अर्यमादि देवों की पुष्टि करता है (नो सखायं) और न ही मनुष्य-साथियों की पुष्टि करता है। सचमुच वह (केवलादी) अकेला खाने—भोग करने—वाला मनुष्य (केवलाघो भवति) केवल पाप को ही भोगने वाला होता है।

* *
*

२६ आषाढ़

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्, द्राघीयांसं अनुपश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्त्तन्ते रथ्येव चक्रा, अन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥

ऋ० १०.११७. ५॥

विनय

धन को जाते हुए कितनी देर लगती है ? व्यापार में घाटा हो जाता है, चोर लुटेरे धन लूट ले जाते हैं, बैंक टूट जाते हैं, घर जल जाता है आदि सैकड़ों प्रकारों से लक्ष्मी मनुष्य को क्षणभर में छोड़कर चली जाती है। वास्तव में लक्ष्मी देवी बड़ी चंचल है। वह मनुष्य कितना मूर्ख है जो यह समझता है कि बस, यदि मैं दूसरों को धन दान नहीं करूँगा तो और किसी तरह मेरा धन मुझसे जुदा नहीं हो सकेगा। अरे, धन तो जब

समय आएगा तो एक पलभर में तुझे कंगाल बनाकर कहीं चला जाएगा। इसलिए, हे धनी पुरुष ! यदि इस समय तेरे शुभ कर्मों के भोग से तेरे पास धन संपत्ति आई हुई है तो तू इसे यथोचित दान में देने में कभी संकोच मत कर। जीवन-मार्ग को ज़रा विस्तृत दृष्टि से देख और सत्पात्र को दान देने में अपना कल्याण समझ, अपनी कमाई समझ। सच्चा दान करना, सचमुच जगत्पति भगवान् को उधार देना है जो कि बड़े भारी दिव्य सूद के साथ फिर वापिस मिलता है। जो जितना त्याग करता है वह उससे न जाने कितना गुणा अधिक प्रतिफल पाता है; यह ईश्वरीय नियम है। दान तो संसार का महान सिद्धान्त है। पर इस इतनी साफ़ बात को यदि लोग नहीं समझते हैं तो इसका कारण यह है कि वे मार्ग को दूर तक नहीं देखते हैं। जीवन-मार्ग कितना लम्बा है, यह संसार कितना विस्तृत है और इस संसार में जीवों को शुभ-अशुभ कर्मों का फल उन्हें कब का कब मिलता है, यह सब कुछ नहीं दिखाई देता। इसी लिए हमें संसार में चलते हुए वे अटल नियम भी दिखाई नहीं देते जिनके अनुसार सब मनुष्यों को उनके शुभ, अशुभ कर्मों का फल अवश्यम्भावितया भोगना पड़ता है। यदि इस संसार की गति को हम ज़रा भी ध्यान के साथ देखें तो पता लगेगा कि धन-सम्पत्ति इतनी अस्थिर है कि यह रथचक्र की तरह घूमती फिरती है, आज इसके पास है तो कल दूसरे के पास है। पर हम इतनी क्षुद्र दृष्टि वाले हैं और इसी लिए इस 'आज' में ही इतने ग्रस्त हैं कि हम 'कल' को देखते हुए भी देखते नहीं हैं ! संसार में लोगों का नित्य धननाश होता हुआ देखते हुए भी अपने धननाश के समय से एक पल पहिले तक भी हम इस

घटना के लिए कभी तैयार नहीं होते और इसीलिए जरा से धन-नाश होने पर इतने रोते चीखते भी हैं। यदि हम मार्ग को विस्तृत देखें तो इन धनागमों और धनानाशों को अत्यन्त तुच्छ बात समझें। यदि संसार में प्रतिक्षण चलायमान, घूमते हुए, इस धन-चक्र को देखें, इस बहते हुए धनप्रवाह को देखें, तो हमें धन जमा करने का ज़रा भी मोह न रहे, किन्तु धन के ठीक उपयोग करने का—उचित व्यय करने का—ही हम ध्यान करें। इसलिए भाई! तुम जीवन-मार्ग को सुदीर्घ देखो, विशालदृष्टि से देखो कि जगत् में जो यह ईश्वरीय धन-चक्र चल रहा है वह उपयोग के लिए ही है, और सत्पात्र में दान देना ही धन का सर्वश्रेष्ठ सदुपयोग है। अब से तेरे पास हे भाई! यदि कोई निस्स्वार्थ सच्चा याचक आए तो उसे कभी खाली मत भेजना, सामर्थ्य के के अनुसार उसे ज़रूर भरपूर कर देना और विशालदृष्टि से देखना कि ऐसा करके तूने अपना ही लाभ किया है, अपना एक आवश्यक स्वाभाविक कर्तव्य करके केवल अपना ही लाभ किया है।

शब्दार्थ—

(तव्यान्) धन से बढ़े हुए समृद्ध पुरुष को चाहिए कि वह (नाधमानाय) माँगने वाले सत्पात्र को (पृणीयात इत्) दान दे ही; (पन्थां) सुकृत मार्ग को (द्राघीयांसं) दीर्घतम (अनुपश्येत) देखे। इस लम्बे मार्ग में (रायः) धन सम्पत्तियाँ (उ हि) निश्चय से (रथ्याः चक्रा इव) रथ-चक्रों की तरह (आ वर्तन्ते) ऊपर नीचे घूमती रहती हैं, बदलती रहती हैं। और (अन्यं अन्यं उपतिष्ठन्ते) एक को छोड़कर दूसरे के पास जाती रहती हैं।

*

* *

२७ आषाढ़

अपाम सोमं अमृता अभूम, अगन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः, किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥

ऋ० ८.४८.३ ॥

विनय

मैंने अमर करने वाले ज्ञानामृत का पान कर लिया है, मैं तृप्त हो गया हूँ, अमर हो गया हूँ। अब मैं मृत्यु से पार हो गया हूँ, क्योंकि मैंने देख लिया है कि मैं अजर अमर हूँ, नित्य हूँ, सनातन हूँ, न कभी पैदा हुआ हूँ, और न कभी मर सकता हूँ, यह सब मैं ज्ञान के प्रकाश में साफ देख रहा हूं। मैं प्रकाश के राज्य में पहुँचा हुआ हूं, किसी भ्रम व संशय को स्थान नहीं है। मैं अब मरने वाला मनुष्य नहीं रहा हूँ, देव हो गया हूं, मैंने देव लोक पा लिया है। अब मेरा न कोई मित्र है और न शत्रु है। मेरे लिए संसार में विघ्न बाधा कोई वस्तु नहीं रही है। जो बिचारे अज्ञानी मुझे अपना शत्रु समझते हैं, मुझे सहायता देना रोक कर हानि पहुँचाना चाहते हैं—वे जानते नहीं। उनके किये से भला मेरा क्या बिगड़ सकता है? मुझ परितृप्त निष्काम पुरुष को वे क्या हानि पहुँचा सकते हैं? तुझ अमर को मरण-

शील मनुष्य की कौन सी हिंसा, कौन सा बध मार सकता है? हे मेरे अमृत परमेश्वर! वे अमृतपन को कुछ भी नहीं जानते। तू उन्हें भी अमृत का ज़रा मज़ा चखा दे, तो ये जान जायँ कि मरणशील मनुष्य कितना तुच्छ है और उसके हाथ में पकड़ा हुआ और भी अधिक क्षणभंगुर हिंसा का हथियार कितना अधिक तुच्छ है! मनुष्य अपने मर्त्यपन की अवहेलना को अनुभव करने लगे तो वह अमर बनने के लिए, देव बनने के लिए व्याकुल हो उठे। तब मार-काट, हिंसा, द्वेष कहाँ रहे? तब किसी को बिगाड़ने की ज़रूरत न रहे, सबको बनाना ही काम हो जाय; किसी को मारने, नाश करने की जरूरत न रहे, सबको जीवित करनेका ही काम रह जाय। अहो, अमर को मारने की इच्छा करने वाले कितना व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं! परितृप्त ज्ञानी देव को नुकसान पहुँचाना चाहने वाले कितने भ्रम में हैं! अपनी शक्ति का कितना दुरुपयोग कर रहें हैं! हे परमेश्वर! तू उन पर दया कर।

शब्दार्थ—

(सोमं अपाम) मैंने सोम का पान किया है, (अमृताः अभूम) अमर हो गया हूँ। (ज्योतिः अगन्म) प्रकाशपा लिया है (देवान् अविदाम) देवों को प्राप्त हो गया हूँ, देव हो गया हूँ, मैंने दिव्यता पा ली है, सो अब (नूनं) निश्चय से (अरातिः) शत्रु, दान का अभाव (अस्मान् किं कृणवत्) हमारा क्या करेगा और (मर्त्यस्य धूर्तिः) मरणशील मनुष्य की हिंसा (अमृत) हे अमृत देव! (किं) मेरा क्या बिगाड़ेगी?



२८ आषाढ़

त्रातारो देवा:अधिवोचता नो, मा नःनिद्रा ईशत मोत जल्पिः ।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः, सुवीरासो विदथमावदेम ॥

ऋ० ४८.१४ ॥

विनय

हे प्राकृतिक देवो, तुम हमसे बात करो। तुम हमारे से इतने स्वाभाविक और नज़दीकी सम्बन्ध में हो जाओ कि हम तुम्हारे अभिप्राय को सदा समझते रहें। हे रक्षक देव! तुम तो हमारे इतने आत्मीय हो कि यद्यपि हम अप्राकृतिक जीवन बिताते हुए अपनी हानि करने में कभी कुछ कसर नहीं छोड़ते हैं तो भी तुम्हारी प्रवृत्ति सदा अन्त तक हमारी रक्षा करने की रहती है। हमें हानि तभी पहुंचती है जब कि हम तुम्हारी बात अन्त तक नहीं सुनते, तुम्हारे बार बार सावधान करने पर भी हम तुम्हारी चेतावनी को नहीं सुनते। और तुम्हारी जोरदार आवाज़ भी हमें सुनाई इसलिए नहीं देती चूँकि हम तुम से समस्वर (In tune) नहीं रहते, तुम्हारे यंत्र से अपना यंत्र मिलाय नहीं रखते। पर इस समता में ही सब कुछ है। हम या तो तमोगुण में पड़े रहते हैं या उस से उठते हैं तो रजोगुण हमें अपने चक्र पर चढ़ा लेता है। इन दोनों की समता (सत्व गुण) में हम टिक नहीं सकते। हममें यह सामर्थ्य नहीं है कि हम अपनी निद्रा को या अपनी बोलने आदि की क्रिया को अपने

काबू में रख सकें। जब 'तम' का वेग आता है तो हम आलस्य में दब जाते हैं और जब 'रज' का वेग आता है तो हम बोलते चले जाते हैं। इस असमता को, हे देवो ! अब हम से हटा दो। अब 'निद्रा' और 'जल्पि' हम पर अपना प्रभुत्व न कर सकें, हम अब जब चाहें तभी आराम करें, अपनी निद्रा लेवें और अपने भाषण आदि कर्म पर पूरा संयम रख सकें। इस समता, संयम रख सकने में ही श्रेष्ठ वीरता है, सुवीरता है। यदि हम ऐसे हो जायँगे तो, हे देवो ! तुम सब देवों के देव उस सोम-देव के भी हम प्यारे हो जायँगे अब हमारी यही इच्छा है कि उस सोम प्रभु के प्यारे होते हुए और समता में रहने वाले ऐसे 'सुवीर' होते हुए ही हम अपना जीवन बितायें। ऐसे तुम्हारे भाई बनकर तुम से जो कुछ ज्ञान पावें उसे अपने जीवन द्वारा फैलाते रहें—तुम से जो कुछ सुनें उसे औरों को भी सुनाते रहें। इस लिए, हे देवो ? तुम अब हमें सुनाओ, हम से बात करो।

शब्दार्थ—

(त्रातारः देवाः) हे रक्षक देवो ! (नः अधिवोचत) हमसे बात करो, हमें बताओ। (नः निद्रा मा ईशत) हम कभी निद्रा, आलस्य के वशीभूत न होवें और (मा उत जल्पिः) और न ही बक-वास, व्यर्थ बोलने की इच्छा हमें दबावे। (वयं विश्वह सोमस्य प्रियासः) हम सदा सोम के प्यारे होते हुए और (सुवीरासः) श्रेष्ठ वीर होते हुए (विदथं आवदेम) ज्ञान को फैलाते रहें।

* *

*

२६ आषाढ़

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व, वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया, तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥

ऋ० १०.३४.१३ ॥

विनय

बिना परिश्रम किये फल चाहने वाले भाइयो, बिना पसीना बहाए सुख संपत्ति के उम्मीदवारो ! तुम बडे भारी भ्रम में हो। तुम्हारी यह इच्छा इस जगत् के महान् सिद्धान्त के विपरीत है। इस जगत् के स्वामी, सर्वान्तर्यामी प्रेरक प्रभु ने यह बात आज मुझे साफ़ साफ़ दिखला दी है, मेरे अन्तःकरण में इसका प्रकाश हो गया है। पहिले मैंने भी सुख पा लेने के बहुत से छोटे रास्ते (Short cuts) ढूंढ़े, पर आज प्रभु-कृपा से मुझे साक्षात् हो गया है कि बिना स्वयं परिश्रम किये कोई सच्चा सुख नहीं मिल सकता है। यह अटल नियम है। इसलिए आज मैं ऊँचे पर खड़ा होकर सब संसार को कहना चाहता हूँ मनुष्यमात्र को सुना देता हूं—"हे मनुष्य ! तू जूआ मत खेल, तू खेती कर।" आज संसार के मनुष्य नाना तरह से जुआ खेल रहे हैं, भिन्न भिन्न जातियों ने अपने अपने ढंग—सभ्य या असभ्य ढंग—निकाल रखे हैं। पर इन सब ढंगों में दो मूल भूत बात रहती हैं अर्थात् (१) बिना श्रम किये समृद्धि प्राने का लोभ और (२) इसके लिये अपने आपको भाग्य की अनिश्चित, संशयित संभावना पर छोड़ देना। इस लोभ और आलस्य में फँस कर मनुष्य जुए के पाप में पड़ता है। पर लोभ और

आलस्य के कारण वैयक्तिक ही नहीं, किन्तु समाजिक संपत्ति का ह्रास होता है तथा कौटुम्बिक जीवन (जो कि मनुष्य के विकास का साधन है) का नाश होता है। मनुष्यों, तुम्हें संपत्ति का सुख (जिसका कि उपलक्षण 'गावः है) और कौटुम्बिक सुख (जिसका कि उपलक्षण 'जाया' है) इस कृषि से ही मिलेगा, जुए से नहीं; खुद श्रम करके कमाने से मिलेगा, दूसरे को ठगने द्वारा मिली प्राप्ति से नहीं। इस लिए ऐसी थोड़ी कमाई को ही तू बहुत समझ। ईमानदारी और परिश्रम से कमाया हुआ थोड़ा सा धन भी बहुत है; वह वास्तव में बहुत अधिक है। किसी प्रकार के भी जुए (द्यूत) से रहित सच्ची कमाई का एक एक पैसा एक एक हीरे के बराबर है, उतना ही सुख देने वाला है। इसलिए, हे प्यारे ! तू अपनी शुद्ध कमाई की रूखी-सूखी में अमृत खाने का आनन्द ले और अपनी शुद्ध कमाई के दो पैसों पर ही बादशाह को मात करने वाले गर्व के साथ सच्चा आनन्द लूट।

शब्दार्थ—

(अक्षैः मा दीव्यः) तू कभी जुआ मत खेल किन्तु (कृषि इत् कृषस्व) खेती ही का काम परिश्रम पूर्वक कर (वित्ते बहु मन्यमानः) परिश्रम से मिले धन को ही बहुत मानता हुआ उसी में (रमस्व) आनन्दित, प्रसन्न और सन्तुष्ट रह। (कितव) हे जुआ खेलने वाले ! (तत्र) इसी परिश्रम की कमाई में ही (गावः) गौ आदि सब सच्ची संपत्ति हैं और (तत्र जाया) इसी में सब गृहस्थ-सुख हैं। (तत्) यह बात (अर्यः अयं सविता) मेरे स्वामी इस प्रेरक प्रभु ने (मे) मुझे (वि चष्टे) अच्छी तरह दिखला दी है।

३० आषाढ़

विधुं दद्राणं समने बहूनां, युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वा, अद्या ममर स ह्यः समान ॥

ऋ० १०.५५.५ ॥ साम० उ० ९.१.७ ॥ अथर्व० ९.१०.९ ॥

विनय

हे मनुष्यो, यह आश्चर्य देखो कि जवान को बुड्ढा निगल जाता है! उस पराक्रमी जवान को जो कि रणस्थली में बहुतों को मार भगाने वाला है और जो कि बड़े बड़े विविध कर्म करने वाला है, ऐसे जवान को एक न-जाने कब का बुड्ढा, सफेद बालों वाला बुड्ढा, निगल जाता है। मनुष्यो, तुमने बेशक बहुत से मनुष्यकृत किताबी और काल्पनिक काव्य पढ़े होंगे, पर आज जरा इस जीते-जागते सामने होते हुए देव के महान् काव्य को भी देखो, जरा इस महाकाव्य के भी पन्ने पलटो और ढो जिसमें लिखा है कि "जो अभी कल जी रहा था वह आज मरा पड़ा है।" बस, इस दिव्य महाकाव्य में यही लिखा हुआ है।

भाई! क्या तुमने उस जवान के निगलने वाले बुड्ढे को पहिचाना? क्या तुमने अपनी आँखों के सामने इस दिव्यकाव्य को नहीं देख रहे? क्या देखते हो कि दुनियाँ में रोज जो हजारों (एक क्षण पहिले तक दूसरों को मार भगाने की शक्ति का गर्व रखते हुए) आदमी मर रहे हैं, उन्हें कौन निगल रहा है? यदि नहीं देखते तो वेद की किताब में यह पढ़ लेने पर कि आत्मा

अपने में प्राणों और इन्द्रियों को रोज निगलता है, आदित्य-शक्ति 'चन्द्रमस्' को निगलती है और परम बुड्ढा, कालरूप परमेश्वर एक दिन इस सब बड़े वेग से क्रियाशील, अगम, महान् ब्रह्माण्ड को (इस चलते फिरते नौजवान संसार को) भी निगल लेता है, तो यह पढ़ लेने पर भी नहीं देखोगे। यदि तुम्हें यह सहस्रों चतुर्युगियों वाला कल्पान्त संसार ब्रह्मा का केवल एक दिन नहीं नजर आता जो कि उसके अगले ही दिन—उसके 'कल' में ही—मरा पड़ा है; और यदि तुम्हें इस जगत् की एक एक घटना इसकी क्षणभंगुरता को नहीं दिखाती, तो तुम्हें वह देव ही एक दिन अपना महत्वशाली काव्य पढ़ाएगा और तुम्हें पदार्थपाठ देवेगा—"कल जो जीता था वह आज मरा पड़ा है।"

भाई, देव के इस संसार में आकर यदि हम केवल इस 'अनित्यता' को ही सचमुच जान जाँय, केवल यह पाठ पढ़ लेवें, और अतएव कम से कम अपने बल का, नौजवानी का, कर्मशक्ति का दूसरों को मार भगा सकने का घमण्ड छोड़ देवें तो बस, यह पर्याप्त है। तो हमने सब काव्य पढ़ लिए और पढ़ाई का फल पा लिया।

शब्दार्थ—

युवानं सन्तं) एक ऐसे नौजवान को (विधुं) जो कि विविध काम करने वाला है और (समने) रण में (बहूनां) बहुतों को (दद्राणं) मार भगाने वाला है उसे (पलितः) एक बुड्ढा (जगार) निगल जाता है। (देवस्य) देव के (महित्वा) इस बड़े महत्व वाले (काव्यं) काव्य को (पश्य) देख कि (ह्यःसम + आन) कल जो जी रहा था, साँस ले रहा था, (सः) वही (अद्य) आज (ममार) मरा पड़ा है।

३१ आषाढ़

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां, स्वसादित्यानां अमृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय, मा गां अनागां अदितिं वधिष्ट ॥

ऋ० ८.१०.१.१५ ॥

विनय

हे मनुष्य, तू गौ को कभी मत मार। इस निरपराध बिचारी गौ को कभी मत मार। तू चेतनवाला है, तुझे परमात्मा ने कुछ समझ, अक्ल, बुद्धि दी है। इसलिए तुझे कहता हूँ तू गो-घात कभी मत करना। तू जरा सा अपनी समझ का उपयोग करेगा तो तुझे पता लग जायगा कि यह गौ यद्यपि बड़ी भोली, बिचारी, बिल्कुल निर्दोष है इसलिए इसे कोई भी कभी मार सकता है, मारने से यह मर जायगी, कोई प्रतिरोध न करेगी; पर साथ ही यह इतनी महत्त्वशालिनी है,

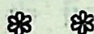
सब देवों की सम्बन्धिनी और अमरपन का एक केन्द्र है कि इसका मारना अपना नाश करना है, इसका घात करना आत्मघात है। यह गौ कहीं और नहीं, हमारे ही अन्दर है। यह 'अदिति' आत्म-शक्ति है, वाणी है, अन्तरात्मा की वाणी है, अन्दर की आवाज है। इसे तुम दबाओगे तो बेशक यह चुपचाप दब तो जायगी, पर इससे तुम्हारा आत्मा नष्ट हो जायगा। यह 'अदिति' वाणी (यह आदित्यों की बहिन) वसुओं—आत्मा की वासक अग्नियों—से प्रकट होती है (इनकी पुत्री है) और मनुष्य के सब 'रुद्रों'—प्राणों—की और सब चेष्टाओं की माता है। यह ऐसी अमृत वस्तु है कि इसे मारने का यत्न करने वाला खुद मर जाता है, और इसकी रक्षा करने वाला ही सुरक्षित रहता है। इसी अन्दर की 'गौ' की प्रतिनिधि आधिदैविक में भूमि है, आधिभौतिक में राष्ट्र-देवी है, और पशुओं में गौ माता है। हे चेतना वाले मनुष्य! तू समझ कि इन गौओं का भी घात कितना भयङ्कर परिणाम लाने वाला है। भूमि, राष्ट्र और गौओं की रक्षा करने में ही मनुष्यों की, मनुष्य-जाति की रक्षा है। देखना, इस भूमि-गौ की, इस राष्ट्र-गौ की तथा इस गौ-पशु की जरा भी हिंसा करने वाला कर्म्म तुझसे न होवे। जब कभी इन सर्वथा अप्रतिरोधिनी गौओं की हिंसा करने का प्रलोभन आवे तो याद कर लेना कि ये सब अमृत की नाभियाँ हैं और अपने अपने क्षेत्र के आदित्यों, वसु, और रुद्रों से सम्बन्धित दिव्य शक्तियाँ हैं। इनको मार कर तू कभी फल-फूल नहीं सकता। पर अन्त में सब बाह्य गौओं की गौ तो अन्तरात्मा की वाणी है। इस गौ को तो कभी मत छेड़ना। इसे सदा पालना, पोसना और इसकी

आज्ञा को सदा मानना। अपना सर्वस्व स्वाहा करके भी इस गौ की रक्षा करना। इसे जरा भी नहीं दबाना। यदि इस अमृतनाभि 'अदिति' गौ का रक्षण, पोषण और वृद्धि होती गई तो तू भी एक दिन अमृत हो जायगा, देवों का राज्य पा जायगा। देखना, इस सर्वथा अप्रतिरोधिनी परम शान्त गौ का तेरे यहाँ जरा भी तिरस्कार न होने पावे, इसे जरा भी क्षति न पहुँचने पावे।

शब्दार्थ—

मैं (चिकितुषे जनाय) प्रत्येक चेतना वाले मनुष्य को (नु प्रवोचं) कहे देता हूँ कि (अनागां) निरपराध (अदितिं) अहन्तव्या (गां) गौ को (मा वधिष्ट) कभी मत मार, क्योंकि यह (रुद्राणां माता) रुद्र देवों की माता है, (वसूनां दुहिता) वसु देवों की कन्या है और (आदित्यानां स्वसा) आदित्य देवों की बहिन है तथा (अमृतस्य नाभिः) अमरपन का केन्द्र है।





३२ आषाढ़

अजीतये अहतये पवस्व, स्वस्तये सर्वतात्तये बृहते ।
तदुशन्ति विश्व इमे सखायः, तदहं वश्मि पवमान सोम ॥
ऋ० ९. ९६. ४ ॥

विनय

हम चाहते हैं कि हम अजित रहें, कभी हार न खावें; हम अहत रहें, कभी मारे न जावें; हमारा कल्याण ही होवे, कभी हमारा कोई अकल्याण न होवे। परन्तु इस सब के लिए, हे सोम, हम तुम्हारे रस के भिक्षुक हैं। तुम्हारा रस मिल

जाए तो यह और सब कुछ हमें स्वयमेव मिल जाय। जैसे कि ग्रीष्म के बाद मेघवृष्टि उद्यान व खेत की सब वृक्ष वनस्पतियों को जिस समय सजीव करती है तो उनमें सरसता, उनमें हरियाली, उनमें नवपल्लवों का फूटना, उनमें पुष्प और फल का आना आदि सब कुछ उस एक वर्षारस के पा जाने से हो जाता है; उसी तरह यह संसार रूपी महा उद्यान भी, हे बरसने वाले सोम, तुम्हारा रस पाकर ही नाना तरह से फलता फूलता और जीवित रहा करता है। इस संसारोद्यान का प्रत्येक जीव रूपी वृक्ष तुमसे जीवन पाकर ही नाना प्रकार से आत्म-विकास पा रहा है। हम किसी भी प्रकार की उन्नति चाहें, किसी भी दिशा में आत्म-विकास पाना चाहें, सदा हमें जिस एक वस्तु की जरूरत है, वह है तुमसे मिलने वाला जीवन-रस, सोम-रस। इसलिए, हे पवमान सोम! संसार के ये सब मेरे मनुष्य-साथी तुमसे यह जीवन-रस माँग रहे हैं—तुमसे यही चाह रहे हैं। मैं तुम से इसी को माँग मचा रहा हूँ। तो हे सोम! अब तुम मेरे लिये त्वरित होओ—मेरे इन सब मनुष्य-सखाओं के लिए त्वरित होओ; हमारी अरातिं, अदितिं, स्वस्ति आदि सब कामनाओं को पूरा कर डालने के लिए त्वरित होओ। नहीं नहीं तुम तो हे अमृत बरसाने वाले! इस सब चर, अचर, बृहत् संसार के लिए ही अपनी अमृत-वर्षा का दान करो। ऐसा बरसो कि तुम्हारे अमृत से सींचे जाते हुए इस विशाल ब्रह्माण्ड में सब जीवों, सब प्राणियों की सदा ठीक तरह से सर्वविध सर्वोन्नति व सर्वोदय ही होता जावे। और इस तरह सब जगत् और प्राणीमात्र का अमृत-सिंचन करते हुए ही तुम मुझ इस अपने एक तुच्छ प्राणी को भी अपना यह

अमृत-रस प्रदान करो। जरा देखो, यह सब संसार इस अमृत-रस के पाने के लिए कैसा व्याकुल हो रहा है, मैं इस के लिए कैसा तड़प रहा हूँ ?

शब्दार्थ—

(पवमान सोम) हे क्षरित होने वाले सोम ! (अजीतये) हमारे अजित होने के लिए (अहतये) हमारे अहत रहने के लिए (स्वस्तये) हमारे कल्याण के लिए तथा (बृहते सर्वतातये) इस महान् संसार के सर्वविध सर्वोन्नति व सर्वोदय के लिए (पवस्व) तुम क्षरित होओ। (तत्) इसे ही (इमे विश्वे सखायः) ये सब मनुष्य-साथी (उशन्ति) चाह रहे हैं, माँग रहे हैं और (तत्) इसे ही (अहं) मैं (वश्मि) चाह रहा हूँ—इसके लिए व्याकुल हो रहा हूँ।

❋ ❋
❋

ध्यान रख

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम्

अथर्ववेद २-३०-४

—****—

जो तेरे अन्दर हो वही बाहिर
हो और जो बाहिर
हो वही
अन्दर
हो

अनुक्रमणिका



लेखक की अन्य पुस्तकें

वैदिक ब्रह्मचर्य-गीत

यह पण्डित देवशर्मा (स्वामी अभयदेव जी) की नवीन पुस्तक है। इस वर्ष श्रद्धानन्द-निधि के सदस्यों को यह पुस्तक भेंट की गई है। इसमें स्वामी जी ने अपने अनुभवों के आधार पर वेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। पुस्तक की बहुत थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं। मूल्य २)

ब्राह्मण की गौ

राष्ट्रीय जागृति के इन दिनों में इस वैदिक-सूक्त की व्याख्या एक बार प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य पढ़ लेनी चाहिए।

(इसका कई प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है) मू० ।।।)

मिलने का पता—गुरुकुल काँगड़ी, जि० सहारनपुर।

आचार्य रामदेव जी कृत

भारतवर्ष का इतिहास

इसकी उपादेयता आर्यजगत में प्रसिद्ध हो चुकी है भारतीय सभ्यता और संस्कृति का सुन्दर विवेचन इस पुस्तक में है। तीन भागों का दाम ७)

सोम-सरोवर

[लेखक—पण्डित चमूपति जी एम. ए.]

यह ग्रन्थ सामवेद के पवमान पर्व का सुललित भाष्य है। पुस्तक को अद्भुत, वीर, शान्त शीर्षक से तीन तरंगों में बांटा गया है। भाष्य की सारी भाषा कवितामयी है। पाठक भक्तिरस के इस झरने का पयः पान करें, अध्ययन करें व मनन करें, उन्हें वैदिक स्वाध्याय से लाभ होगा। मूल्य २)

स्तूप-निर्माण-कला

[लेखक—श्री नारायणराव जी]

इस पुस्तक में अनेक प्रकार के व्यायामों की विधियां लेख और चित्रों द्वारा समझायी गयी हैं। ये व्यायाम शरीर को पुष्ट करने वाले और वीर भावनाएँ भरने वाले हैं। इस पुस्तक द्वारा अपने बालकों में व्यायाम का शौक पैदा कीजिए।

मूल्य ३)

प्राप्ति स्थान—पुस्तक भण्डार

डाकघर—गुरुकुल काँगड़ी

(सहारनपुर)

बृहत्तर भारत

(लेखक—श्री चन्द्रगुप्त जी वेदालङ्कार)

स्वर्गीय चन्द्रगुप्त जी गुरुकुल काँगड़ी के प्रतिभावान् स्नातकों में से थे। उनका इतिहास विषयक ज्ञान अगाध था। एशिया के चीन, स्याम, ब्रह्मा, जावा आदि देशों में आर्य-संस्कृति व सभ्यता किस प्रकार फैली और उन देशों की जनता ने उसे क्यों इतना पसन्द किया ? चन्द्रगुप्त जी ने इसकी विस्तृत मीमांसा अपने अद्भुत ग्रन्थ "बृहत्तर-भारत" में विस्तार से की है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में इस पुस्तक का अद्वितीय स्थान है। प्रत्येक आर्य को इसकी एक प्रति अपने यहाँ अवश्य रखनी चाहिए। पुस्तक की छपाई सफ़ाई बढ़िया है। पाँचसौ पृष्ठ की पुस्तक का दाम है केवल सात रुपया।

पता—पुस्तक भण्डार
गुरुकुल कांगड़ी
(सहारनपुर)